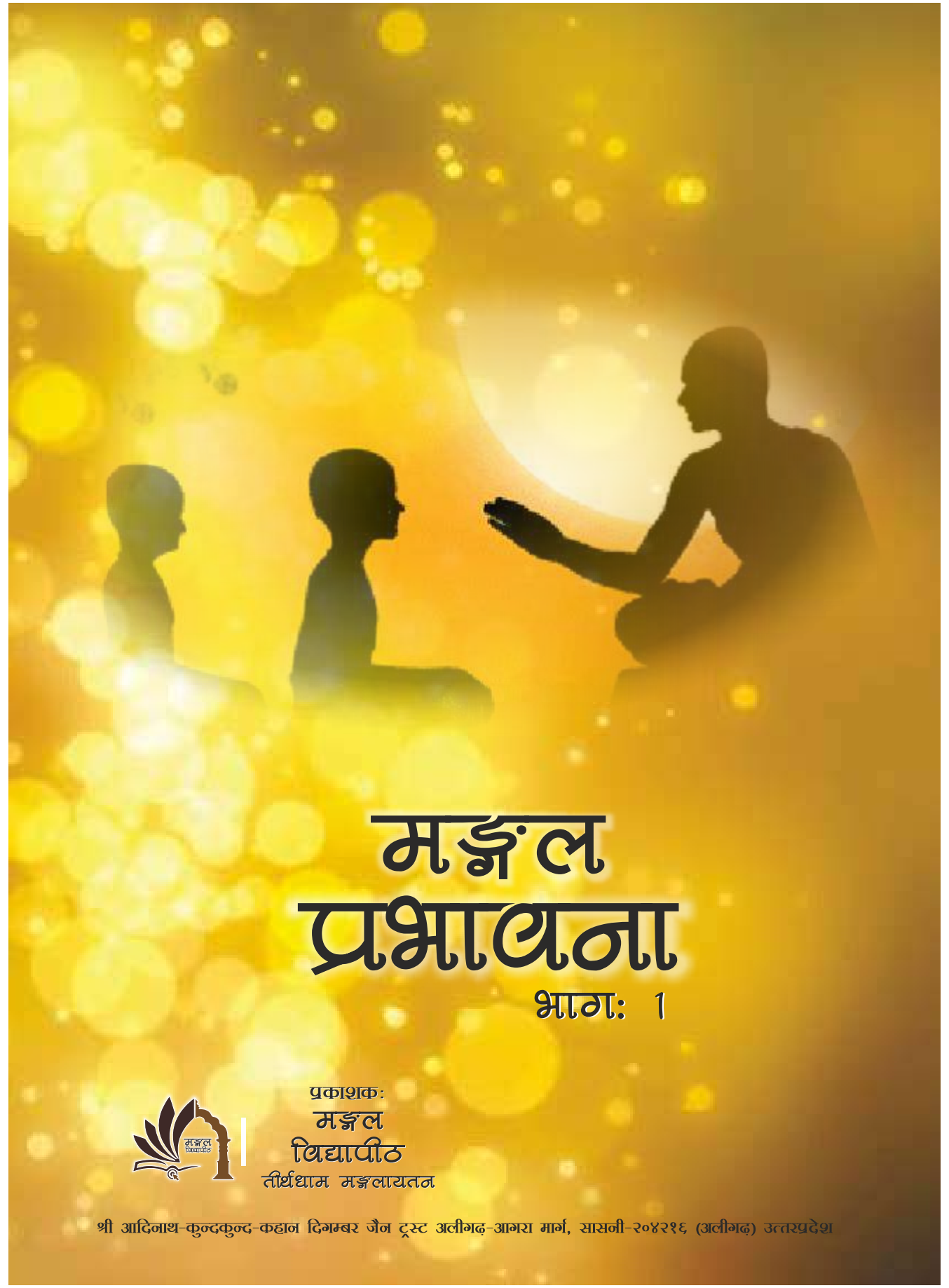

मङ्गल प्रभावना

भाग: 1

प्रकाशक:
मङ्गल
विद्यापीठ
तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-२०४२१६ (अलीगढ़) उत्तरप्रदेश

ॐ

॥ नमः श्री सिद्धेभ्यः ॥

मंगल प्रभावना

(प्रथम भाग)

प्रकाशक :

मङ्गल विद्यापीठ

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

सासनी - 204216, हाथरस (उत्तरप्रदेश) भारत

mob. : 91-8191900042, e-mail : mangalvidyapeeth@gmail.com

हमारे जीवनशिल्पी
धर्मपिता
पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी
के कर-कमलों में
सविनय समर्पित!

हम हैं आपके,
नन्हें-मुन्नें ज्ञायक

प्रस्तावना

जैनदर्शन में तीर्थंकर, धर्म के संस्थापक नहीं होते, वे तो प्रवर्तक होते हैं, प्रचारक होते हैं।

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव से लेकर, शासननायक भगवान महावीर तक यह प्रवाह निरंतर चलता रहा। महावीर भगवान के निर्वाण होने के पश्चात् कुछ केवलियों और श्रुतकेवलियों ने इसी शृंखला को आगे बढ़ाया। विशेष ज्ञानियों का अभाव होने पर, मुनि परंपरा में यह विकल्प हुआ कि पंचम काल के अंतपर्यंत यदि जिनशासन को सुरक्षित करना है, तो सत्यमार्ग को जन-जन तक पहुँचाना होगा और इसके लिए जिनागम को लिपिबद्ध करना होगा। इसीलिए पुष्पदन्ताचार्य, कुन्दकुन्दाचार्य आदि वीतरागी महर्षियों ने समय-समय पर वीतरागता के पोषक ग्रन्थों के लेखन का दुरूह कार्य किया।

काल के ओघ से जब यह वाणी, मंदबुद्धियों को समझने में दुर्गम हुई, तब उन ग्रन्थों की टीकाएँ लिखी गयीं। वीतरागी संतों का भी विरह-सा होता देखकर, कविवर पण्डित बनारसीदासजी, आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी जैसे समर्थ विद्वानों ने उन टीकाओं का सरलीकरण किया। इसे भी सरल-सुगम करने हेतु आज के परिप्रेक्ष्य में गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने सरलतम शब्दों में 45 वर्षों तक लगातार अमृतवर्षा की, जिससे प्रेरित होकर आज हजारों विद्वानों की सृष्टि हुई। हमारे ऊपर इन सबके अनंत उपकार हैं।

मङ्गल विद्यापीठ को यह विकल्प आया कि विद्वानों का योग सबको हो, यह जरूरी नहीं है। आज विषयों की अन्धी भाग-दौड़ के इस काल में समय की अनुकूलता मिलना दुर्लभ है। बीमारी आदि से ग्रस्त होने के कारण भी साधारणजन शास्त्र-सभाओं में जाकर, स्वाध्याय का लाभ नहीं ले सकते। किसी सुयोग से स्वाध्याय के समय की अनुकूलता भी हो तथा स्वास्थ्य भी ठीक हो, पर चारों अनुयोग के ज्ञाता विद्वान की प्राप्ति दुर्लभ है।

मङ्गल विद्यापीठ ने निर्णय किया कि ऐसा कोई सर्वजनहिताय उपक्रम

प्रारम्भ किया जाए; जिसमें लघु वय से ही मुमुक्षुता को योग्य पोषण मिलता रहे। देश-विदेश के किसी भी कोने में बैठकर, कोई भी उपासक, समस्त विषयों का सांगोपांग अध्ययन कर सके और उसकी समय-समय पर परीक्षा भी होती रहे। परीक्षा के लिए लिखित या On-Line का भी विकल्प रहे। साथ-साथ समय-समय पर श्रोताओं की जिज्ञासानुसार, नियमित अथवा प्रासंगिक कक्षाओं का Video Conference द्वारा भी आयोजन हो।

मङ्गल विद्यापीठ का यह भी भाव है कि एक **'मङ्गल जिज्ञासा'** उपक्रम चले, जिसमें समय-समय पर श्रोताओं से प्रश्न पूछे जाएँ और उत्तरदाताओं को पुरस्कृत भी किया जाए। साथ ही एक **'मङ्गल समाधान'** उपक्रम चले, जिसमें श्रोताओं की जिज्ञासाओं का तत्काल समाधान मिलने का यह केन्द्रबिंदु बने, जिसमें किसी भी अनुयोग की शंकाओं का निराकरण, आगम तथा युक्ति से हमारी विद्वत् मंडली के सदस्यों द्वारा किया जाए। हम चाहते हैं कि ज्ञान के प्रचार-प्रसार के अभियान के इस यज्ञ में आप भी हमारे सहभागी बनें।

इन भागों को बनाने में हमने पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर आदि संस्थाओं द्वारा प्रकाशित पुस्तकों का सहयोग लिया है। हम उसके लिए सभी के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

अनुक्रमणिका

क्रम	विषय	पृष्ठ संख्या
1	आलोचना पाठ	1
2	जिनेन्द्र अर्चना	4
3	निश्चय और व्यवहार	7
4	पाप और पुण्य	11
5	उपयोग	17
6	सम्यग्ज्ञान	21
7	शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति	23
8	अभाव	29
9	जैनाचार का मुख्य अंग – रात्रिभोजनत्याग	34
10	राजा हरसुखराय	38
11	सति अनन्तमती	43
	सती अनन्तमती गाथा	48

पाठ 1

आलोचना पाठ

कविवर जौहरीलाल-कृत

(दोहा)

वन्दौ पाँचों परम-गुरु, चौबीसों जिनराज।
करूँ शुद्ध आलोचना, शुद्धिकरन के काज॥

(सखी छन्द)

सुनिये जिन अरज हमारी, हम दोष किये अति भारी।
तिनकी अब निर्वृति काज, तुम शरण लही जिनराज॥

इक बे ते चउइन्द्री वा, मन रहित-सहित जे जीवा।
तिनकी नहिं करुणा धारी, निरदइ ह्वै घात विचारी॥

समरम्भ समारम्भ आरम्भ, मन वच तन कीने प्रारम्भ।
कृत कारित मोदन करिकैं, क्रोधादि चतुष्टय धरिकैं॥

शत आठ जु इमि भेदनतैं, अघ कीने परिछेदनतैं।
तिनकी कहुँ कौलों कहानी, तुम जानत केवलज्ञानी॥

विपरीत एकान्त विनय के संशय अज्ञान कुनय के।
वश होय घोर अघ कीने, वचतैं नहिं जाय कहीने॥

कुगुरुन की सेवा कीनी, केवल अदयाकरी भीनी।
या विधि मिथ्यात भ्रमायो, चहुँगति मधि दोष उपायो॥

हिंसा पुनि झूठ जु चोरी, पर-वनिता सों दृग जोरी।
आरम्भ परिग्रह भीनो, पन पाप जु या विधि कीनो॥

सपरस रसना घ्रानन को, चखु कान विषय-सेवन को।
बहु करम किये मनमाने, कछु न्याय अन्याय न जाने॥

फल पंच उदम्बर खाये, मधु मांस मद्य चित चाये।
नहिं अष्ट मूलगुण धारे, विसयन सेये दुःखकारे॥

दुइबीस अभख जिन गाये, सो भी निस दिन भुंजाये।
कछु भेदाभेद न पायो, ज्यों त्यों करि उदर भरायो॥

अनन्तानु जु बंधी जानो, प्रत्याख्यान अप्रत्याख्यानो।
संज्वलन चौकरी गुनिये, सब भेद जु षोडस सुनिये॥

परिहास अरति रति शोग, भय ग्लानि तिवेद संयोग।
पनवीस जु भेद भये इम, इनके वश पाप किये हम॥

निद्रावश शयन कराई, सुपने मधि दोष लगाई।
फिर जागि विषय-वन धायो, नानाविध विष फल खायो॥

आहार विहार निहारा, इनमें नहिं जतन विचारा।
बिन देखी धरी उठाई, बिन शोधि वस्तु जु खाई॥

तब ही परमाद सतायो, बहुविधि विकलप उपजायो।
कछु सुधि बुधि नाँहिं रही है, मिथ्या मति छाय गयी है॥

मरजादा तुम ढिग लीनी, ताहूँ में दोष जु कीनी।
भिन-भिन अब कैसें कहिये, तुम ज्ञान विषें सब पइये॥

हा हा! मैं दुठ अपराधी, त्रस-जीवन-राशि विराधी।
थावर की जतन न कीनी, उर में करुणा नहिं लीनी॥

पृथिवी बहु खोद कराई, महलादिक जागाँ चिनाई।
बिन गाल्यो पुनि जल ढोल्यो, पंखा तैं पवन बिलोल्यो॥

हा हा! मैं अदयाचारी, बहु हरितकाय जु बिदारी।
तामधि जीवन के खन्दा, हम खाये धरि आनन्दा॥

हा हा! परमाद बसाई, बिन देखे अगनि जलाई।
तामधि जे जीव जु आये, ते हू परलोक सिधाये॥

बीध्यो अन राति पिसायो, ईंधन बिन सोधि जलायो।
झाड़ू ले जागाँ बुहारी, चिंटी आदिक जीव बिदारी॥

जल छानि जिवानी कीनी, सो भू पुनि डारि जु दीनी।
नहिं जल-थानक पहुँचाई, कीरिया बिन पाप उपाई॥

जल मल मोरिन गिरवायो, कृमि-कुल बहु घात करायो।
नदियन बिच चीर धुवाये, कोसन के जीव मराये॥

अन्नादिक शोध कराई, तामैं जु जीव निसराई।
तिनकौ नहिं जतन करायौ, गलियारैं धूप डरायौ॥

पुनि द्रव्य कमावन काज, बहु आरम्भ हिंसा साज।
किये तिसना वश अघ भारी, करुना नहिं रंच विचारी॥

इत्यादिक पाप अनन्ता, हम कीने श्री भगवन्ता।
संतति चिरकाल उपाई, वानी तैं कहिय न जाई॥

ताकौ जु उदय अब आयो, नानाविध मोहि सतायो।
फल भुंजत जिय दुःख पावै, वचतैं कैसें करि गावै॥

तुम जानत केवलज्ञानी, दुःख दूर करो शिव थानी।
हम तो तुम शरण लही है, जिन तारन विरद सही है॥

जो गाँवपती इक होवे, सो भी दुखिया दुख खोवै।
तुम तीन भुवन के स्वामी, दुःख मेटहु अन्तरजामी॥

द्रोपदि को चीर बढ़ायो, सीता प्रति कमल रचायो।
अंजन से किये अकामी, दुःख मेटो अन्तरजामी॥

मेरे अवगुन न चितारो, प्रभु अपनो विरद सम्हारो।
सब दोष रहित करि स्वामी, दुःख मेटहु अन्तरजामी॥

इन्द्रादिक पद नहिं चाहूँ, विषयनि में नाहिं लुभाऊँ।
रागादिक दोष हरीजै, परमातम निज पद दीजै॥

(दोहा)

दोषरहित जिनदेवजी, निजपद दीज्यो मोय।
सब जीवन के सुख बढ़ै, आनन्द मङ्गल होय॥
अनुभव माणिक पारखी, 'जोहरी' आप जिनन्द।
ये ही वर मोहि दीजिये, चरण शरण आनन्द॥

पाठ 2

जिनेन्द्र अर्चना

ज्ञानियों को साधकदशा में, जो स्वभावसन्मुख दृष्टि होती है, निज स्वभाव में आत्मपने की अनुभूति होती है, वही **परमार्थपूजा** है, भक्ति है, भजन है, अर्चना है। साध्यदशा के अभाव में जो थोड़ी-सी कमजोरी रहती है, उसमें ज्ञानी, साध्यदशा की प्राप्ति के लिए, परम इष्टदशा को प्राप्त पुरुषों का, पंच परमेष्ठियों का गुणगान करता है, उन सरीखा होने की भावना भाता है, वह **व्यवहारपूजा-अर्चना** है।

भक्ति साहित्य में रंगकर दशभक्ति, भक्तामरस्तोत्र, विषापहारस्तोत्र, एकीभावस्तोत्र आदि की, ज्ञानियों ने झड़ियाँ लगा दी हैं। भावों की विशुद्धि के लिये, भक्त कभी-कभी प्रणाम आदि शरीर की क्रियाओं का, नमोस्तु आदि वचन की क्रियाओं का तथा कभी-कभी जल, गन्ध, पुष्प आदि अर्पण की क्रियाओं का अवलम्बन लेता है। इसे **द्रव्यपूजा** कहते हैं, आचार्य अमितगति अपने अमितगति श्रावकाचार में लिखते हैं—

'वचो विग्रहसंकोचो, द्रव्य-पूजा निगद्यते।'

वचन और शरीर को अन्य क्रियाओं से हटाकर, अपने पूज्य के प्रति एकाग्र करने को **द्रव्यपूजा** कहते हैं। तथा '**तत्र मानससंकोचो, भावपूजा पुरातनैः।**' मनसम्बन्धी विविध विकल्पजनित व्यग्रता को दूर कर, उसे ध्यान तथा गुण-चिन्तन आदि द्वारा इष्ट में लीन करना, **भावपूजा** है। भावपूजा, द्रव्य के आलम्बन बिना भी हो सकती है।

द्रव्यपूजन के पाँच अंग प्रचलन में हैं -

आह्वानन : पूज्य को बुलाने की मनोभावना को आह्वानन कहते हैं। वास्तव में भगवान का अवतार होता नहीं है। यह भक्तिभावना के स्तर का एक मनोवैज्ञानिक तथ्य व व्यावहारिक सत्य है। यह भक्त की एक कल्पनामात्र है।

स्थापन : आह्वानन किए गए पूज्य को ससम्मान उच्चासन पर विराजमान करने की मनोभावना को स्थापन कहते हैं।

सन्निधिकरण : भावना के स्तर पर अत्यन्त भक्तिपूर्वक उच्चासन पर बिठाने पर भी तृप्ति न होने से, अतिसन्निकट अर्थात् हृदय के सिंहासन पर बिठाने की तीव्र उत्कण्ठा या मनोभावना को सन्निधिकरण कहते हैं।

पूजन : पूजन वह क्रिया है, जिसमें भक्त, भगवान की प्रतिमा के समक्ष अष्ट द्रव्य आदि विविध आलम्बनों द्वारा कभी तो उन अष्ट द्रव्यों को परमात्मा के गुणों के प्रतीकरूप देखता हुआ क्रमशः एक-एक द्रव्य का आलम्बन लेकर, भगवान का गुणानुवाद करता है। कभी उन अष्ट द्रव्यों को, उपयोग को अटकाने में निमित्तभूत भोगों का प्रतीक मानकर, उन्हें भगवान के समक्ष त्यागने की भावना भाता है। कभी अनर्घ्य (अमूल्य) पद की प्राप्ति हेतु, अर्घ्य (बहुमूल्य) सामग्री के रूप में पुण्य से प्राप्त सम्पूर्ण वैभव की समर्पणता करने को उत्सुक दिखायी देता है। भक्त की इसी क्रिया / प्रक्रिया को पूजन कहते हैं।

विसर्जन : पूजा की समाप्ति पर, पूजा के समय हुई द्रव्य एवं भावसम्बन्धी त्रुटियों के लिए, अत्यन्त विनम्रभावों से क्षमा-प्रार्थना के साथ, भक्तिभाव प्रगट करते हुए, पूज्य की चरण-शरण सदा प्राप्त करें, ऐसी कामना करना, विसर्जन है।

यहाँ विसर्जन का अर्थ, अभाव करने के अर्थ में न होकर, विशेष सर्जन करने के रूप में है अर्थात् बिना भगवान के आलम्बन के, भावविशुद्धि का प्रयास करना है, आत्मानुभूति का लक्ष्य करना है। इसीलिए तो जयमाला का यह प्रयोजन है कि अभी जो बीच-बीच में अर्घ्य चढ़ाने की व्यग्रता हो रही थी, उसे भी न रखकर, लगातार (मालारूप से) जयकार (पूजन) करते रहें।

ध्यान रहे कि अभिषेक या प्रक्षालन, पूजन का अंग नहीं है। प्रत्येक पूजक को प्रक्षाल करना अनिवार्य नहीं है तथा ठीक भी नहीं है क्योंकि अभिषेक / प्रक्षालन के नाम पर प्रतिमा के अंगोपांग नियमितरूप से रगड़ने से, प्रतिमा जीर्ण होने लगती है; इसीलिए केवल शुद्धता की दृष्टि से, दिन में एक बार ही प्रतिमा का प्रक्षालन होना चाहिए।

जिनालयों में, अनन्त चतुष्टय को प्राप्त, तीर्थंकरों की प्रतिमाएँ स्थापित की जाती हैं। हुण्डावसर्पिणीकाल के प्रभाव से, रागी-द्वेषी देवी और देवताओं की प्रतिमाओं को स्थापित करने का मिथ्या प्रचलन प्रारम्भ हुआ है। धरणेन्द्र, पद्मावती, क्षेत्रपाल आदि की कल्पित प्रतिमाएँ स्थापित करके, उनकी पूजन की जाने लगी है।

दुःषमकाल के प्रभाव से, भगवान की प्रतिमाएँ भी, उपसर्गसहित विराजमान की जा रही हैं। केवलियों के केवलज्ञान सम्बन्धी दस अतिशयों में, उपसर्ग के अभावरूप एक अतिशय बताया गया है - क्योंकि केवलज्ञान प्रकट होने के साथ ही भगवान पर होनेवाला कोई भी उपसर्ग स्वयं ही समाप्त हो जाता है।

पण्डित सदासुखदासजी के शब्दों में - **'(अज्ञानी लोग) भगवान पार्श्व जिनेन्द्र की प्रतिमा, मस्तक के ऊपर फण बिना, बनाते ही नहीं हैं। भगवान पार्श्व अरहन्त के समवसरण में मस्तक के ऊपर धरणेन्द्र द्वारा फण बनाना कैसे सम्भव है ?..... वीतरागमुद्रा तो इस प्रकार की नहीं होती है।'**

इसी प्रकार भगवान बाहुबली की मूर्ति पर भी बेलें चढ़ी हुई दिखाई जाती हैं। यह मूर्ति अरिहन्तावस्था की है, अत: इस पर भी बेलों का अंकन नहीं होना चाहिए। क्या हम नेत्राकर्षण के लोभ में, केवली का अवर्णवाद तो नहीं कर रहे हैं ? जो प्राचीन प्रतिमाएँ हैं, उनको देखकर, हमें भगवान अरहन्तदेव की फणसहित अथवा बेलसहित प्रतिमाओं का प्रचलन जारी रखना योग्य नहीं है।

द्रव्यक्षेपण में भी अचित्त[1] द्रव्य ही लें, क्योंकि जैनधर्म, अहिंसा प्रधान धर्म है। जिस प्रकार भगवान में स्थापना का निक्षेप-व्यवहार किया है; उसी प्रकार दीप, धूप, फल में भी स्थापना का निक्षेप किया है। व्यवहार ऐसा ही होता है और यह ज्ञानियों का विवेक है।

इस तरह शरीर और वचन, पूजन में रहने पर भी यदि मन उसमें न रम रहा हो, तो वह पूजन बेकार ही है क्योंकि बिना भाव के कोई क्रिया, फलदायक नहीं होती। जैसा कि **कल्याणमन्दिरस्तोत्र,** पद्य 38 में कहा भी है –

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षितोऽपि,
नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या,
जातोऽस्मि तेन जन-बान्धव! दु:खपात्रं,
यस्मात् क्रिया: प्रतिफलन्ति न भाव-शून्या:।

अर्थ – हे जन-बन्धु! (भगवान) तुम्हारा उपदेश सुनकर भी, तुम्हारी पूजा करके भी और तुम्हें बारम्बार देखकर भी, अवश्य ही मैंने भक्तिपूर्वक तुम्हें अपने हृदय में स्थापित नहीं किया। इसी से मैं दु:खों का पात्र बना; क्योंकि भावशून्य क्रिया, कभी भी फलदायी नहीं होती।

आवश्यक के एक अंग पूजन का लक्ष्य, आत्मानुभूतिरूप निश्चय आवश्यक है। इसी परमार्थ पूजन से / अर्चना से, संसारचक्र का छेदन सम्भव है।

प्रश्न –

1. निश्चयपूजा और व्यवहारपूजा में अंतर लिखें।
2. अमितगति आचार्य की दृष्टि में द्रव्यपूजा तथा भावपूजा क्या है ?
3. पूजन के कितने अंग होते हैं ? उनका स्पष्टीकरण करें।
4. पार्श्वनाथ भगवान की प्रतिमा पर फण होना क्यों अनुचित है ?
5. कल्याणमंदिरस्तोत्र में भावशून्यता का क्या फल कहा है, यह साधार लिखें।

1. अचित्त अर्थात् प्रासुक, जिसमें से प्राण निकल चुका हो।

पाठ 3

निश्चय और व्यवहार

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी

(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी के पिता, श्री जोगीदासजी खण्डेलवाल दिगम्बर जैन गोदिका गोत्रज थे और माँ का नाम रंभाबाई था। वे विवाहित थे। उनके दो पुत्र थे – हरिश्चन्द्र और गुमानीराम। गुमानीराम महान प्रतिभाशाली और उनके समान ही क्रान्तिकारी थे। यद्यपि पण्डितजी का अधिकांश जीवन जयपुर में ही बीता, किन्तु उन्हें अपनी आजीविका के लिए कुछ समय सिंघाणा रहना पड़ा था। वे वहाँ दिल्ली के एक साहूकार के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते थे।

'परम्परागत मान्यतानुसार उनकी आयु 27 वर्ष की मानी जाती है, किन्तु उनकी साहित्य-साधना, ज्ञान व नवीनतम प्राप्त उल्लेखों के आधार पर यह निश्चित हो चुका है कि वे 47 वर्ष तक अवश्य जीवित रहे। उनकी मृत्यु-तिथि वि. सं. 1823-24 लगभग निश्चित है, अत: उनका जन्म वि.सं. 1776-77 में होना चाहिए।'*

उनकी सामान्य शिक्षा जयपुर की एक आध्यात्मिक (तेरापंथ) सैली में हुई, परन्तु अगाध विद्वत्ता केवल अपने कठिन श्रम एवं प्रतिभा के बल पर ही उन्होंने प्राप्त की। वे प्रतिभा सम्पन्न, मेधावी और अध्ययनशील थे। प्राकृत, संस्कृत, हिन्दी के अतिरिक्त उन्हें कन्नड़ भाषा का भी ज्ञान था।

संवत् 1821 में ब्रह्मचारी राजमल 'इन्द्रध्वज विधान महोत्सव पत्रिका' में लिखते हैं – 'ऐसे पुरुष महन्त बुद्धि का धारक ई काल विषै होना दुर्लभ है। तातैं याँसूँ मिलें सर्व संदेह दूरि होई है।'

आप स्वयं मोक्षमार्गप्रकाशक में अपने अध्ययन के बारे में लिखते हैं – 'टीकासहित समयसार, पंचास्तिकाय, प्रवचनसार, नियमसार, गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, तत्त्वार्थसूत्र इत्यादि शास्त्र और क्षपणासार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, अष्टपाहुड़, आत्मानुशसन आदि शास्त्र और श्रावक-मुनि के आचार के प्ररूपक अनेक शास्त्र और सुष्ठुकथासहित पुराणादि शास्त्र – इत्यादि अनेक शास्त्र हैं, उनमें हमारे बुद्धि अनुसार अभ्यास वर्तता है।'

उन्होंने अपने जीवन में छोटी-बड़ी बारह रचनाएँ लिखीं, जिनका परिमाण करीब एक लाख

* 'पण्डित टोडरमल : व्यक्तित्व और कर्तृत्व' श्री टोडरमल स्मारक ट्रस्ट।

श्लोक प्रमाण है। इनमें कुछ तो लोकप्रिय ग्रंथों की विशाल प्रामाणिक टीकाएँ हैं और कुछ स्वतन्त्र रचनाएँ हैं। वे गद्य और पद्य दोनों रूपों में पायी जाती हैं। वे कालक्रमानुसार निम्नलिखित हैं –

(1) रहस्यपूर्ण चिट्ठी (वि.सं. 1811); (2) गोम्मटसार जीवकाण्ड भाषा टीका; (3) गोम्मटसार कर्मकाण्ड भाषा टीका; (4) अर्थसंदृष्टि अधिकार; (5) लब्धिसार भाषा टीका; (6) क्षपणासार भाषा टीका; (7) गोम्मटसार पूजा; (8) त्रिलोकसार भाषा टीका; (9) समवशरण रचना वर्णन; (10) मोक्षमार्गप्रकाशक (अपूर्ण); (11) आत्मानुशासन भाषा टीका; (12) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय भाषा टीका (अपूर्ण)

पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की अपूर्ण भाषा टीका को पण्डित दौलतराम कासलीवाल ने वि.सं. 1827 में पूर्ण किया।

उनकी गद्य शैली परिमार्जित, प्रौढ़ एवं सहज बोधगम्य है। उनकी शैली का सुन्दरतम रूप उनके मौलिक ग्रन्थ मोक्षमार्गप्रकाशक में देखने को मिलता है। उनकी भाषा मूलरूप से ब्रज होते हुए भी, उसमें खड़ी बोली का खड़ापन भी है, साथ ही स्थानीय रंगत भी। उनकी भाषा उनके भावों को वहन करने में पूर्ण समर्थ व परिमार्जित है।

प्रस्तुत अंश मोक्षमार्ग-प्रकाशक के सप्तम अधिकार के आधार पर लिखा गया है। निश्चय-व्यवहार की विशेष जानकारी के लिए मोक्षमार्गप्रकाशक के सप्तम अधिकार का अध्ययन अवश्य करना चाहिए।

निश्चय और व्यवहार

खानचंदजी – पण्डितजी साहब! कल आपने कहा था कि रत्नत्रय ही दु:ख से मुक्ति का मार्ग (मोक्षमार्ग) है। मोक्षमार्ग तो दो हैं न, निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग ?

पंडित टोडरमलजी – नहीं भाईजी! मोक्षमार्ग दो नहीं हैं; मोक्षमार्ग का कथन (वर्णन) दो प्रकार से है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग कहा जाए, वह निश्चयमोक्षमार्ग है और जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाए, वह व्यवहारमोक्षमार्ग है क्योंकि निश्चय और व्यवहार का सब जगह यही लक्षण है –

'सच्चे निरूपण को निश्चय कहते हैं और उपचरित निरूपण को व्यवहार।'

समयसार की 11 वीं गाथा में कहा है –

व्यवहार, अभूतार्थ (असत्यार्थ) है क्योंकि वह सत्य स्वरूप का निरूपण नहीं करता है। निश्चय, भूतार्थ (सत्यार्थ) है क्योंकि वह वस्तुस्वरूप का सच्चा निरूपण करता है।

गंगाधरजी – मैं तो ऐसा मानता हूँ कि सिद्धसमान शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, निश्चय है और व्रत, शील, संयमादि प्रवृत्ति, व्यवहार है।

पं. टोडरमलजी – यह ठीक नहीं है, क्योंकि 'किसी द्रव्य-भाव का नाम निश्चय और किसी

का व्यवहार' – ऐसा नहीं है किन्तु 'एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही वर्णन करना, निश्चयनय है और उपचार से उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप वर्णन करना, व्यवहार है।' जैसे – मिट्टी के घड़े को मिट्टी का कहना, निश्चय और घी का संयोग देखकर उपचार से उसे घी का घड़ा कहना, व्यवहार है।

श्रीपालजी – समयसार में तो शुद्धात्मा के अनुभव को निश्चय और व्रत, शील, संयमादि को व्यवहार कहा है।

पं. टोडरमलजी – शुद्धात्मा का अनुभव, सच्चा मोक्षमार्ग है; अत: उसे निश्चयमोक्षमार्ग कहा है तथा व्रत, तप आदि मोक्षमार्ग नहीं हैं, इन्हें निमित्तादि की अपेक्षा, उपचार से मोक्षमार्ग कहा है; अत: इन्हें व्यवहार-मोक्षमार्ग कहते हैं।

अत: निश्चयनय से जो निरूपण किया हो, उसे सच्चा (सत्यार्थ) मानकर, उसका श्रद्धान करना और व्यवहारनय से जो निरूपण किया हो, उसको असत्य (असत्यार्थ) मानकर, उसका श्रद्धान छोड़ना।

सिद्धार्थजी – श्रद्धान तो निश्चय का रखें और प्रवृत्ति व्यवहाररूप करें तो.. ?

पं. टोडरमलजी – नहीं भाईजी! निश्चय का निश्चयरूप और व्यवहार का व्यवहाररूप श्रद्धान रखना चाहिए और प्रवृत्ति में तो नय का प्रयोजन ही नहीं है। प्रवृत्ति तो द्रव्य की परिणति है। जिस द्रव्य की परिणति हो, उसको उसी की कहनेवाला निश्चयनय है और उस ही को अन्य द्रव्य की कहनेवाला व्यवहारनय है; अत: यह श्रद्धान करना कि निश्चयनय का कथन सत्यार्थ है और व्यवहारनय का कथन उपचरित होने से, असत्यार्थ है।

श्रीपालजी – आपने ऐसा क्यों कहा कि निश्चयनय का श्रद्धान करना और व्यवहारनय का श्रद्धान छोड़ना ?

पं. टोडरमलजी – सुनो! व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को व उनके भावों को व कारण-कार्यादि को किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है, इस प्रकार के श्रद्धान से मिथ्यात्व होता है; अत: व्यवहारनय त्याग करनेयोग्य है तथा निश्चयनय उन्हीं को यथावत् निरूपित करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता है, ऐसे श्रद्धान से सम्यक्त्व होता है; अत: उसका श्रद्धान करना।

गंगाधरजी – तो फिर, जैनशास्त्रों में दोनों नयों को ग्रहण करना क्यों कहा है ?

पं. टोडरमलजी – जहाँ निश्चयनय का कथन हो, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही है' – ऐसा मानना; जहाँ व्यवहार की मुख्यता से कथन हो, उसे 'ऐसा है नहीं' निमित्तादि की अपेक्षा, उपचार से कथन किया है – ऐसा मानना ही दोनों नयों का ग्रहण है।

श्रीपालजी – यदि व्यवहार को हेय कहोगे, तो लोग व्रत, शील, संयमादि को छोड़ देंगे।

पं. टोडरमलजी – कुछ व्रत, शील, संयमादि का नाम तो व्यवहार है नहीं, इनको मोक्षमार्ग जानना, व्यवहार है और सच्चा मोक्षमार्ग मानना, मिथ्यात्व है; अत: व्रत, शील, संयमादि को सच्चा मोक्षमार्ग मानना तो छोड़ना ही चाहिए तथा यदि व्रतादि को छोड़ोगे तो क्या हिंसादिरूप प्रवर्तोगे, तो फिर और भी बुरा होगा; अत: व्रतादि को छोड़ना भी ठीक नहीं और उन्हें सच्चा मोक्षमार्ग मानना भी ठीक नहीं।

खानचंदजी – यदि ऐसा है तो फिर जिनवाणी में व्यवहार का कथन ही क्यों किया ?

पं. टोडरमलजी – जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना, समझाया नहीं जा सकता है; उसी प्रकार व्यवहार के बिना, परमार्थ का उपदेश, नहीं दिया जा सकता है; अत: जिनवाणी में व्यवहार का कथन आया है। जैसे – म्लेच्छ को समझाने के लिए भले ही म्लेच्छ भाषा का आश्रय लेना पड़े, पर म्लेच्छ हो जाना तो ठीक नहीं है; उसी प्रकार परमार्थ का प्रतिपादक होने से, भले ही उसका कथन हो, पर वह अनुसरण करनेयोग्य नहीं है।

सिद्धार्थजी – व्यवहार, निश्चय का प्रतिपादक कैसे है ?

पं. टोडरमलजी – जैसे – हिमालयपर्वत से निकल कर बंगाल की खाड़ी में गिरनेवाली सैकड़ों मील लम्बी गंगा की लम्बाई को तो क्या, चौड़ाई को भी आँख से नहीं देखा जा सकता है; अत: उसकी लम्बाई, चौड़ाई और बहाव के मोड़ों को जानने के लिए हमें नक्शे का सहारा लेना पड़ता है परन्तु जो गंगा, नक्शे में है, वह वास्तविक नहीं है; उससे तो मात्र गंगा को समझा / समझाया जा सकता है; उससे कोई पथिक, प्यास नहीं बुझा सकता। प्यास बुझाने के लिए असली गंगा के किनारे ही जाना होगा; उसी प्रकार व्यवहार द्वारा कथित वचन नक्शे की गंगा के समान हैं, उनसे समझा जा सकता है, पर उनके आश्रय से आत्मानुभूति प्राप्त नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति प्राप्त करने के लिए तो निश्चय के विषयभूत शुद्धात्मा का ही आश्रय लेना आवश्यक है; अत: व्यवहारनय तो मात्र जानने (समझने) के लिए प्रयोजनवान है।

प्रश्न –

1. मुक्ति का मार्ग (मोक्षमार्ग) क्या है ? क्या वह दो प्रकार का है ? स्पष्ट कीजिए।
2. निश्चयमोक्षमार्ग और व्यवहारमोक्षमार्ग में क्या अन्तर है ? स्पष्ट कीजिए।
3. निश्चय और व्यवहार की परिभाषाएँ बताइए ?
4. निम्न उक्ति में क्या दोष है ? समझाइए। 'सिद्धसमान शुद्धात्मा का अनुभव करना, निश्चय और व्रत-शील-संयमादि प्रवृत्ति, व्यवहार है।'
5. जिनवाणी में व्यवहार का उपदेश ही क्यों दिया है ?
6. दोनों नयों का ग्रहण करने से, क्या आशय है ?
7. व्यवहार, निश्चय का प्रतिपादक कैसे है ?

पाठ 4

पाप और पुण्य

समस्त भारतीय दर्शनों में आत्मा-परमात्मा, बन्ध-मोक्ष और लोक-परलोक के साथ पुण्य-पाप भी बहुचर्चित विषय रहा है। पुण्य-पाप किसे कहते हैं और उनका मुक्ति के मार्ग में क्या स्थान है? - इस विषय पर जैनदर्शन के परिप्रेक्ष्य में मीमांसा करना ही यहाँ विचारणीय विषय है।

आचार्य कुन्दकुन्द से लेकर आज तक जैनसाहित्य के हर युग में पुण्य-पाप मीमांसा होती रही है। आज भी यह चर्चा का मुख्य विषय है। विवाद पुण्य-पाप की परिभाषा के सम्बन्ध में न होकर, मुक्तिमार्ग में उसके स्थान को लेकर है।

पुण्य और पाप, दोनों आत्मा की विकारी अन्तर्वृत्तियाँ हैं। देवपूजा, गुरूपासना, दया, दान, व्रत, शील, संयमादि के प्रशस्त परिणाम (शुभभाव), पुण्य भाव कहे जाते हैं और इनका फल अनुकूल संयोगों की प्राप्ति है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह-संचय आदि के भाव, पाप भाव हैं और इनका फल प्रतिकूलताएँ हैं।

सामान्यजन, पुण्य को भला और पाप को बुरा मानते हैं क्योंकि मुख्यत: पुण्य से मनुष्य व देवगति की प्राप्ति होती है और पाप से नरक व तिर्यंचगति की। पर उनका ध्यान इस ओर नहीं जाता कि चारों गतियाँ संसार ही हैं, दु:खरूप ही हैं। चारों गतियों में दु:ख ही दु:ख है; सुख किसी भी गति में नहीं है। पण्डित दौलतरामजी ने छहढाला की पहली ढाल में चारों गतियों में दु:ख ही दु:ख बताया है। इसी प्रकार वैराग्य-भावना में भी साफ-साफ लिखा है :-

जो संसार विषैं सुख हो तो, तीर्थंकर क्यों त्यागैं।
काहे को शिवसाधन करते, संजम सों अनुरागैं॥

श्रमण संस्कृति के प्रतिष्ठापक महान आचार्य कुन्दकुन्द ने पुण्य-पाप, दोनों को संसार का कारण बताकर उनके प्रति राग और संसर्ग करने का स्पष्ट निषेध किया है। उनका कथन उन्हीं के शब्दों में इस प्रकार है :-

कम्ममसुहं कुसीलं सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होदि सुसीलं जं संसारं पवेसेदि॥145॥

अशुभकर्म, कुशील है और शुभकर्म, सुशील है, ऐसा तुम जानते हो; किन्तु वह सुशील कैसे हो

सकता है जो शुभकर्म (जीव को) संसार में प्रवेश कराता है।

सोवण्णियं पि णियलं बंधदि कालायसं पि जह पुरिसं।
बंधदि एवं जीवं सुहमसुहं वा कदं कम्मं ॥146॥

जिस प्रकार लोहे की बेड़ी के समान सोने की बेड़ी भी पुरुष को बाँधती है; उसी प्रकार अशुभ (पाप) कर्म के समान, शुभ (पुण्य) कर्म भी जीव को बाँधता ही है।

तम्हा दु कुसीलेहिं य रायं मा कुणह मा व संसग्गं।
साहीणो हि विणासो कुसील - संसग्गरायेण ॥147॥

इसलिए इन दोनों कुशीलों (पुण्य-पाप) के साथ राग व संसर्ग मत करो; क्योंकि कुशील के साथ संसर्ग व राग करने से स्वाधीनता का नाश होता है।

शुभभावों से पुण्यकर्म का बन्ध होता है और अशुभभावों से पापकर्म का बन्ध होता है। बन्ध चाहे पाप का हो या पुण्य का, वह है तो आखिर बन्ध ही, उससे आत्मा बँधता ही है; मुक्त नहीं होता। मुक्त तो शुभाशुभभावों के अभाव से अर्थात् शुद्धभाव (वीतरागभाव) से ही होता है; अतः मुक्ति के मार्ग में पुण्य और पाप का स्थान अभावात्मक ही है।

इस सन्दर्भ में 'योगसार' में योगीन्दुदेव लिखते हैं -

पुण्णइ पावइ सग्ग जिउ पावइ णरय-णिवासु।
वे छंडिवि अप्पा मुणइ तउ लब्भइ सिववासु ॥32॥

पुण्य से जीव स्वर्ग पाता है और पाप से नरक पाता है। जो इन दोनों को छोड़कर, आत्मा को जानता है, वह मोक्ष को प्राप्त करता है।

इसी तरह का भाव, आचार्य पूज्यपाद ने 'समाधि-तंत्र' में व्यक्त किया है।[1] कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी इस सम्बन्ध में स्पष्ट निर्देश देते हैं -

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणिदमण्णेसु।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥181॥[2]

पर के प्रति शुभपरिणाम, पुण्य है और अशुभपरिणाम, पाप है तथा दूसरों के प्रति प्रवर्तमान नहीं है ऐसा आत्मपरिणाम, आगम में दुःख-क्षय (मोक्ष) का कारण कहा है।

---

1. अपुण्यमव्रतैः पुण्यं व्रतैर्मोक्षस्तयोर्व्ययः।
   अव्रतानीव मोक्षार्थी व्रतान्यपि ततस्त्यजेत् ॥83॥
2. प्रवचनसार।

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोह - विहीणो परिणामो अप्पणो धम्मो ॥83॥[1]

जिनशासन में कहा है कि व्रत, पूजा आदि पुण्य हैं और मोह व क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम, धर्म है।

नाटक समयसार में पुण्य-पाप को चण्डालिन के युगलपुत्र (जुड़वाँ भाई) बताते हुए लिखा है कि ज्ञानियों को दोनों में से किसी की भी अभिलाषा नहीं करना चाहिए -

जैसैं काहू चंडाली जुगल पुत्र जनें तिनि,
एक दीयौ बाँभन कैं एक घर राख्यौ है।
बाँभन कहायौ तिनि मद्य मांस त्याग कीनौ,
चंडाल कहायौ तिनि मद्य मांस चाख्यौ है॥
तैसैं एक वेदनीय करम के जुगल पुत्र,
एक पाप एक पुन्न नाम भिन्न भाख्यौ है।
दुहुँ माँहि दौर धूप, दोऊ कर्मबंध रूप,
यातैं ग्यानवन्त नहिं कोउ अभिलाख्यौ है॥3॥[2]

सांसारिक दृष्टि से पाप की अपेक्षा, पुण्य को भला कहा जाता है; किन्तु मोक्षमार्ग में तो पुण्य और पाप दोनों कर्म, बाधक ही हैं -

मुकति के साधक कौं बाधक करम सब,
आतमा अनादि कौ करम माँहि लुक्यौ है।
एते पर कहै जो कि पाप बुरौ पुन्न भलौ,
सोई महा मूढ़ मोख मारग सौं चुक्यौ है॥13॥[3]

महाकवि बनारसीदास ने कुन्दकुन्दाचार्यदेव के समयसार नामक ग्रन्थराज पर आचार्य अमृतचन्द्र द्वारा लिखित आत्मख्याति टीका एवं कलशों के आधार पर नाटक समयसार में पुण्य-पाप सम्बन्धी हेयोपादेय व्यवस्था की गुरु-शिष्य के संवाद के रूप में विस्तार से चर्चा की है, जो इस प्रकार है -

कोऊ सिष्य कहै गुरु पाँहीं, पाप पुन्न दोऊ सम नाँही।
कारण रस सुभाव फल न्यारे, एक अनिष्ट लगैं इक प्यारे॥4॥

---

1. अष्टपाहुड़ (भावपाहुड़)
2. नाटक समयसार, पुण्य-पाप एकत्वद्वार, कविवर पण्डित बनारसीदास;
3. वही

संकलेस परिनामनि सौं पाप बंध होइ,
विसुद्ध सौं पुन्न बंध हेतु-भेद मानियै।
पाप के उदै असाता ताकौ है कटुक स्वाद,
पुन्न उदै साता मिष्ट रस भेद जानियै।
पाप संकलेस रूप पुन्न है विसुद्ध रूप,
दुहुँ कौ सुभाव भिन्न भेद यौं बखानियै।
पाप सौं कुगति होइ पुन्न सौं सुगति होइ;
ऐसौ फलभेद परतच्छि परमानियै ॥5॥

कोई शिष्य गुरु से कहता है कि पाप और पुण्य दोनों समान नहीं हैं; क्योंकि उनके कारण, रस, स्वभाव और फल भिन्न-भिन्न हैं। पाप, अनिष्ट प्रतीत होता है और पुण्य, प्रिय लगता है।

संक्लेशपरिणामों से पापबन्ध होता है और विशुद्धपरिणामों से पुण्यबन्ध; इस प्रकार दोनों में कारण भेद विद्यमान हैं। पाप के उदय से दु:ख होता है, जिसका स्वाद कटुक होता है और पुण्य के उदय से सुख होता है, जिसका स्वाद मधुर है; इस प्रकार दोनों में रसभेद पाया जाता है। पापपरिणाम स्वयं संक्लेशरूप हैं और पुण्यभाव विशुद्धरूप हैं; अत: दोनों में स्वभावभेद भी विद्यमान है। पाप से नरकादि कुगतियों में जाना पड़ता है और पुण्य से देवादि सुगति की प्राप्ति होती है; इस प्रकार दोनों में फलभेद भी प्रत्यक्ष दिखाई देता है फिर आप दोनों को समान कैसे कहते हैं ?

पाप बंध पुन्न बंध दुहूँ मैं मुकति नाँहि,
कटुक मधुर स्वाद पुग्गल कौ पेखिए।
संकलेस विसुद्ध सहज दोऊ कर्मचाल,
कुगति सुगति जगजाल मैं विसेखिए॥
कारनादि भेद तोहि सूझत मिथ्यात्व माँहि,
ऐसौ द्वैत भाव ग्यान दृष्टि मैं न लेखिए।
दोऊ महा अंध कूप दोऊ कर्म बंधरूप,
दुहूँ कौ विनास मोख मारग मैं देखिए ॥6॥

इसके उत्तर में गुरु कहते हैं कि पापबन्ध और पुण्यबन्ध दोनों ही मुक्ति के मार्ग में बाधक हैं; अत: दोनों समान ही हैं। कटुक और मधुर स्वाद भी पुद्गलजन्य हैं तथा संक्लेश और विशुद्ध भाव दोनों ही विभावभाव हैं; अत: ये भी समान ही हैं। कुगति और सुगति दोनों चतुर्गतिरूप संसार में ही हैं, अत: फलभेद भी नहीं है। पुण्य-पाप में कारण, रस, स्वभाव और फलभेद वस्तुत: हैं नहीं; मिथ्यात्व के कारण अज्ञानी को मात्र दिखाई देते हैं, ज्ञानी को ऐसे भेद, दृष्टिगत नहीं होते हैं। पुण्य और पाप दोनों ही अन्ध-कूप हैं, दोनों ही कर्म-बन्धरूप हैं और मोक्षमार्ग में दोनों का ही अभाव देखा जाता है।

मोक्षमार्ग में तो एक शुद्धोपयोग ही उपादेय है –

सील तप संजम विरति दान पूजादिक,
अथवा असंजम कषाय विषैभोग है।
कोऊ सुभ रूप कोऊ असुभ स्वरूप मूल,
वस्तु के विचारत दुविध कर्मरोग है॥
ऐसी बंधपद्धति बखानी वीतरागदेव,
आतम धरम मैं करम त्याग-जोग है।
भौ-जल-तरैया, राग-द्वेष कौ हरैया महा-
मोख कौ करैया एक सुद्ध उपयोग है॥7॥

शील, तप, संयम, व्रत, दान, पूजा आदि अथवा असंयम, कषाय, विषय-भोग आदि इनमें कोई शुभरूप है और कोई अशुभरूप है किन्तु मूल वस्तु का विचार करने पर दो प्रकार का कर्मरोग ही है।[1] भगवान वीतरागदेव ने ऐसी ही बन्ध की पद्धति कही है। पुण्य-पाप दोनों को बन्धरूप व बन्ध का कारण कहा है; अतः आत्म-धर्म (आत्मा का हित करनेवाले धर्म) में तो सम्पूर्ण शुभ-अशुभकर्म त्यागनेयोग्य हैं। संसार-समुद्र से पार उतारनेवाला, राग-द्वेष को समाप्त करनेवाला और मोक्ष को प्राप्त करानेवाला एकमात्र शुद्धोपयोग ही है; शुभोपयोग और अशुभोपयोग नहीं।

इसी सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी लिखते हैं –

'तथा आस्रवतत्त्व में जो हिंसादिरूप पापास्रव हैं, उन्हें हेय जानता है; अहिंसादिरूप पुण्यास्रव हैं, उन्हें उपादेय मानता है; परन्तु ये तो दोनों ही कर्मबन्ध के कारण हैं; इनमें उपादेयपना मानना, वही मिथ्यादृष्टि है।.....इस प्रकार अहिंसावत् सत्यादिक तो पुण्यबन्ध के कारण हैं और हिंसावत् असत्यादिक पापबन्ध के कारण हैं। ये सर्व मिथ्याध्यवसाय हैं, वे सब त्याज्य हैं। इसलिए हिंसादिवत् अहिंसादि को भी बन्ध का कारण जानकर हेय ही मानना.... जहाँ वीतराग होकर दृष्टा-ज्ञातारूप प्रवर्ते, वहाँ निर्बन्ध है सो उपादेय है। सो ऐसी दशा न हो, तब तक प्रशस्त रागरूप प्रवर्तन करो, परन्तु श्रद्धान तो ऐसा रखो कि - यह भी बन्ध का कारण है - हेय है; श्रद्धान में इसे मोक्षमार्ग माने तो मिथ्यादृष्टि ही होता है।'[2]

इस प्रकार हम देखते हैं कि यद्यपि लौकिक दृष्टि से पाप की अपेक्षा पुण्य अच्छा है व इसी तथ्य

---

1. बनारसीदास ने पुण्य को अकररोग और पाप को कम्परोग कहा है। देखिए, नाटक समयसार, उत्थानिका, छन्द 40-41
2. मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 226

को लक्ष्य में रखकर शास्त्रों में उसे व्यवहार से धर्म भी कहा गया है; तथापि मुक्ति के मार्ग में उसका स्थान अभावात्मक ही है।

पुण्य भला मानने में मूल कारण पुण्य के फलस्वरूप प्राप्त होनेवाली भोग-सामग्री में सुखबुद्धि है। जब तक भोगों को सुखरूप माना जाता रहेगा तब तक पुण्य में उपादेयबुद्धि नहीं जा सकती। ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा के स्पर्श के बिना भोगों में से सुखबुद्धि नहीं जा सकती है। ज्ञाननन्दस्वभावी आत्मा का अनुभव ही शुद्धभाव है जो कि शुभाशुभ (पुण्य-पाप) भाव के अभावरूप होता है; अत: सम्यक् सुखाभिलाषी जीवों को आत्मानुभूतिरूप शुद्धभाव को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रश्न

1. मुक्ति के मार्ग में पुण्य का क्या स्थान है ?
2. पुण्य और पाप किसे कहते हैं ?
3. पुण्य और पाप के कारणादि भेदों को स्पष्ट करते हुए दोनों में सयुक्ति एकत्व स्थापित कीजिए।

गर्व का अन्त

इस युग के विदेश के तीन अति गर्विष्ठ-नेपोलियन, मुसोलिनी और हिटलर थे। तीनों अपने को अपराजित माननेवाले थे। तीनों ने विश्वसाम्राज्य का स्वप्न देखा था। तीनों बढ़े-खूब बढ़े, किंतु..... ?

सम्राट नेपोलियन कहता था—'शब्दकोष से असंभव' शब्द निकाल देना चाहिए। यूरोप को उसकी विजय वाहिनी ने रौंदकर धर दिया। नेपोलियन जिधर गया - विजय उसका स्वागत करने को पहले से प्रस्तुत मिली।

वही नेपोलियन - एक नन्हें से समुद्री टापू कारागार में मरा। उसकी विजय का क्या महत्त्व रह गया ? एक साधारण कैदी बनकर वह जेल में जब सड़ता रहा - कहाँ गया, उसका गर्व ?

मदांध मुसोलिनी - पूरा दानव बन गया था। अपनी वायु सेना पर उसे बड़ा गर्व था। शक्ति के मद में चूर मुसोलिनी ने कहा था - 'युद्ध तो विश्व की अनिवार्य आवश्यकता है।' नन्हें से देश अबीसीनिया पर बर्बर आक्रमण करके प्रसन्न होता रहा वह। उसने उस असमर्थ देश के निवासियों पर विषैली गैसें विजय के लिए डलवाईं।

वही मुसोलिनी - युद्ध को विश्व की अनिवार्य आवश्यकता बतानेवाला, उसी सीन्योर मुसोलिनी को युद्ध ने ही समाप्त कर दिया। फाँसी के तख्ते पर प्राणांत हुआ उसका।

हिटलर-हिटलर का तो नाम ही विश्व विजय का प्रतीक बन गया था। हिटलर ने जैसे एक हाथ में हथकड़ी और दूसरे हाथ में बम लेकर विश्व को चुनौती दे दी थी - 'हथकड़ी पहिनो या मेरी परतंत्रता स्वीकार करो, नहीं तो मैं तुमको गर्त में पटक दूँगा। भून दूँगा, मैं तुम्हें।'

युद्ध की अग्नि स्वयं हिटलर ने लगाई, उसी युद्ध ने उसके सामने ही जर्मनी को खंडहर कर दिए। हिटलर - एडाल्फ हिटलर का अस्तित्व दुनिया से इस प्रकार मिट गया कि उसके शव का भी किसी को पता नहीं चला।

पाठ 5

उपयोग

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी
(व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व)

तत्त्वार्थसूत्रकर्तारं, गृद्धपिच्छोपलक्षितम्।
वन्दे गणीन्द्रसंजातमुमास्वामीमुनीश्वरम्॥

कम लिखकर भी अत्यधिक प्रसिद्धि पानेवाले आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र से जैनसमाज जितना अधिक परिचित है, उनके जीवन-परिचय से उतना ही अपरिचित भी है।

आचार्य उमास्वामी, कुन्दकुन्दाचार्य के पट्टशिष्य थे तथा विक्रम की प्रथम शताब्दी के अन्तिम काल में तथा द्वितीय शताब्दी के पूर्वार्ध में भारतभूमि को पवित्र कर रहे थे।

आचार्य गृद्धपिच्छ उमास्वामी उन गौरवशाली आचार्यों में हैं, जिन्हें समग्र आचार्य परम्परा में पूर्ण प्रामाणिकता और सम्मान प्राप्त है। जो महत्त्व वैदिकों में गीता का, ईसाइयों में बाइबिल का और मुसलमानों में कुरान का माना जाता है, वही महत्त्व जैनपरम्परा में गृद्धपिच्छ उमास्वामी के तत्त्वार्थसूत्र को प्राप्त है। इसका दूसरा नाम मोक्षशास्त्र भी है। यह संस्कृतभाषा का सर्व प्रथम जैनग्रन्थ है।

यह ग्रन्थराज, जैनसमाज द्वारा संचालित सभी परीक्षा बोर्डों के पाठ्यक्रमों में निर्धारित है और सारे भारतवर्ष के जैन विद्यालयों में पढ़ाया जाता है।

प्रस्तुत अंश तत्त्वार्थसूत्र के आधार पर लिखा गया है।

उपयोग

दर्शनलाल – भाई ज्ञानचन्द! यह मेरी समझ में नहीं आता कि पिताजी ने अपने ये नाम कहाँ से चुने हैं?

ज्ञानचन्द – अरे! तुम्हें नहीं मालूम – ये दोनों ही नाम धार्मिक दृष्टि से पूर्ण सार्थक हैं। अपने आत्मा का स्वरूप ही दर्शन-ज्ञानमय है। मोक्षशास्त्र में लिखा है – **'उपयोगो लक्षणम्'** ॥2/8॥ अर्थात् जीव का लक्षण, उपयोग है और दर्शन-ज्ञान के व्यापार अर्थात् कार्य को ही उपयोग कहते हैं।

दर्शनलाल – अरे वाह! ऐसी बात है क्या? मुझे तो ये नाम बड़े अटपटे लगते हैं।

ज्ञानचन्द – भाई! तुम ठीक कहते हो। जब तक जिस बात को कभी सुना नहीं, कभी जाना नहीं,

तब तक ऐसा ही होता है। आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने भी लिखा है – इस जीव ने विषयकषाय की बातें तो खूब सुनी हैं, परिचय किया है और अनुभव भी की हैं; अत: वे सरल लगती हैं; परन्तु आत्मा की बात आज तक न तो सुनी है, न ही परिचय किया है और न आत्मा का अनुभव ही किया है; अत: अटपटी लगेगी ही।

दर्शनलाल – भाई ज्ञानचन्द! तो आप इस उपयोग को थोड़ा और खुलासा करके समझाओ, जिससे कम से कम अपने नाम का रहस्य तो जान सकूँ।

ज्ञानचन्द – अच्छी बात है, सुनो।

चैतन्य के साथ सम्बन्ध रखनेवाले (अनुविधायी) जीव के परिणाम को उपयोग कहते हैं और उपयोग को ही दर्शन-ज्ञान भी कहते हैं। यह दर्शन-ज्ञान सब जीवों में होता है और जीव के अतिरिक्त अन्य किसी द्रव्य में नहीं होता; इसलिए यह जीव का लक्षण है। इससे ही जीव की पहिचान होती है। इस उपयोग के मुख्य दो भेद हैं –

(1) दर्शनोपयोग और (2) ज्ञानोपयोग

दर्शनलाल – दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में क्या अन्तर है ? यह समझाइए।

ज्ञानचन्द – जिसमें सामान्य का प्रतिभास (निराकार झलक) हो, उसको दर्शनोपयोग कहते हैं और जिसमें स्व-पर पदार्थों का भिन्नतापूर्वक अवभासन हो, उस उपयोग को ज्ञानोपयोग कहते हैं।

दर्शनलाल – सब जीवों का ज्ञान, एक सरीखा तो नहीं होता ?

ज्ञानचन्द – हाँ, शक्ति अपेक्षा तो सब में ज्ञानगुण एक समान ही है किन्तु वर्तमान की अपेक्षा ज्ञान के मुख्यरूप से 8 गुण (पर्याय) होते हैं –

(1) मतिज्ञान, (2) श्रुतज्ञान, (3) अवधिज्ञान, (4) मन:पर्ययज्ञान, (5) केवलज्ञान,
(6) कुमतिज्ञान, (7) कुश्रुतज्ञान और (8) कुअवधिज्ञान / विभंगावधिज्ञान।

दर्शनलाल – मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि से क्या तात्पर्य ?

ज्ञानचन्द – पराश्रय की बुद्धि छोड़कर, दर्शनोपयोगपूर्वक स्वसन्मुखता से प्रकट होनेवाले निज आत्मा के ज्ञान को, मतिज्ञान कहते हैं अथवा इन्द्रियाँ और मन हैं निमित्त जिसमें, उस ज्ञान को मतिज्ञान कहते हैं और मतिज्ञान के द्वारा जाने हुए पदार्थ के सम्बन्ध से, पदार्थ को विशेष जाननेवाले ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं।

इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना तथा द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए रूपीपदार्थ के स्पष्ट ज्ञान को, अवधिज्ञान कहते हैं।

दर्शनलाल – और मन:पर्ययज्ञान ?

ज्ञानचन्द – सुनो, सब बताता हूँ। ज्ञानी-मुनिराज को इन्द्रियों और मन के निमित्त बिना, द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव की मर्यादा लिए हुए दूसरे के मन में स्थित रूपीविषय के स्पष्ट ज्ञान होने को, मन:पर्ययज्ञान कहते हैं तथा जो अलोक-सहित तीन लोक तथा तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों व उनके समस्त गुण व समस्त पर्यायों को तथा अपेक्षित धर्मों को प्रत्येक समय में स्पष्ट और एक साथ जानता है, ऐसे पूर्ण ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं।

दर्शनलाल – ये तो ठीक पर 'कुमति आदि भी कोई ज्ञान हैं' ?

ज्ञानचन्द – आत्मस्वरूप न जाननेवाले मिथ्यादृष्टि के जो मति, श्रुत, अवधिज्ञान होते हैं – वे कुमति, कुश्रुत व कुअवधि कहलाते हैं; क्योंकि मूलतत्त्व में विपरीत श्रद्धा होने से, उसका ज्ञान भी, मिथ्या ही होता है; भले ही उसके अप्रयोजनभूत लौकिक ज्ञान, यथार्थ हो; किन्तु प्रयोजनभूत तत्त्वज्ञान, यथार्थ न होने से, उसके वे सब ज्ञान, मिथ्या ही हैं।

दर्शनलाल – क्या दर्शनोपयोग के भी भेद होते हैं ?

ज्ञानचन्द – हाँ ! दर्शनोपयोग चार प्रकार का होता है –

(1) चक्षुदर्शन, (2) अचक्षुदर्शन, (3) अवधिदर्शन और (4) केवलदर्शन।

दर्शनलाल – चक्षुदर्शन तो ठीक है अर्थात् आँख से देखना; परन्तु अचक्षुदर्शन क्या है ?

ज्ञानचन्द – नहीं भाई ! चक्षुदर्शन भी दर्शनोपयोग का ही भेद है।

चक्षुइन्द्रिय जिसमें निमित्त हो, उस मतिज्ञान से पहले जो सामान्य- प्रतिभास या अवलोकन होता है, उसको चक्षुदर्शन कहते हैं और चक्षुइन्द्रिय को छोड़कर, शेष चार इन्द्रियाँ और मन जिसमें निमित्त हों – ऐसे मतिज्ञान से पहले होनेवाले सामान्यप्रतिभास को अचक्षुदर्शन कहते हैं।

दर्शनलाल – बहुत ठीक ! और अवधिदर्शन ?

ज्ञानचन्द – इसी प्रकार अवधिज्ञान से पहले होनेवाले सामान्य-प्रतिभास को अवधिदर्शन कहते हैं; परन्तु केवलदर्शन में कुछ विशेषता है।

दर्शनलाल – वह क्या ?

ज्ञानचन्द – केवलज्ञान के साथ होनेवाले सामान्यप्रतिभास व अवलोकन को केवलदर्शन कहते हैं। केवलदर्शन व केवलज्ञान में काल भेद नहीं होता।

दर्शनलाल – वाह भाई ! खूब समझाया ! धन्यवाद !!

प्रश्न –

1. उपयोग किसे कहते हैं ? वह कितने प्रकार का होता है ? भेद-प्रभेदसहित बताइए ?
2. दर्शनोपयोग और ज्ञानोपयोग में क्या अन्तर है ? स्पष्ट कीजिए ?
3. निम्नांकित में से किन्हीं दो की परिभाषाएँ दीजिए :-

   मतिज्ञान, केवलज्ञान, चक्षुदर्शन, केवलदर्शन
4. आचार्य उमास्वामी के व्यक्तित्व और कर्तृत्व पर प्रकाश डालिए ?

आत्मीय रिश्ते

श्री राम, लक्ष्मण एवं सीता मैया चित्रकूट पर्वत की ओर जा रहे थे, राह बहुत पथरीली और कंटीली थी। यकायक श्री राम के चरणों में कांटा चुभ गया।

श्री राम रूष्ट या क्रोधित नहीं हुए, बल्कि हाथ जोड़कर धरती माता से अनुरोध करने लगे।

बोले – 'माँ, मेरी एक विनम्र प्रार्थना है आपसे, क्या आप स्वीकार करेंगी ?'

धरती बोली – 'प्रभु प्रार्थना नहीं, आज्ञा दीजिए ?'

प्रभु बोले – 'माँ, मेरी बस यही विनती है कि जब भरत मेरी खोज में इस पथ से गुजरे, तो आप नरम हो जाना। कुछ पल के लिए अपने आँचल में ये पत्थर और कांटे छुपा लेना। मुझे कांटा चुभा सो चुभा, पर मेरे भरत के पाँव में आघात मत करना।

श्री राम को यूँ व्यग्र देखकर धरा दंग रह गई। पूछा – भगवन, धृष्टता क्षमा हो। पर क्या भरत आपसे अधिक सुकुमार हैं ? जब आप इतनी सहजता से सब सहन कर गए, तो क्या कुमार भरत सहन नहीं कर पाएंगे ? फिर उनको लेकर आपके चित्त में ऐसी व्याकुलता क्यों ?

श्री राम बोले – नहीं... नहीं माते, आप मेरे कहने का अभिप्राय नहीं समझीं। भरत को यदि कांटा चुभा, तो वह उसके पाँव को नहीं, उसके हृदय को विदीर्ण कर देगा।

धरती माँ – हृदय विदीर्ण ! ऐसा क्यों प्रभु ?

श्री राम – अपनी पीड़ा से नहीं माँ, बल्कि यह सोचकर कि... इसी कंटीली राह से मेरे भैया राम गुजरे होंगे और ये शूल उनके पगों में भी चुभे होंगे।

मैया, मेरा भरत कल्पना में भी मेरी पीड़ा सहन नहीं कर सकता, इसलिए उसकी उपस्थिति में आप कमल पंखुड़ियों सी कोमल बन जाना।

अर्थात् रिश्ते अंदरूनी एहसास, आत्मीय अनुभूति के दम पर ही टिकते हैं। जहाँ गहरी आत्मीयता नहीं, वो रिश्ता नहीं, दिखावा हो सकता है।

इसीलिए कहा गया है कि रिश्ते खून से नहीं, परिवार से नहीं, मित्रता से नहीं, व्यवहार से नहीं, बल्कि सिर्फ और सिर्फ आत्मीय एहसास से ही बनते और निर्वहन किए जाते हैं।

जहाँ एहसास ही नहीं, आत्मीयता ही नहीं... वहाँ अपनापन कहाँ से आएगा ?

पाठ 6

सम्यग्ज्ञान

ज्ञानगुण, जीव का स्वभाव है, जो त्रैकालिक होता है एवं निगोदियाजीव से लेकर, सिद्धजीवों तक में पाया जाता है। जब तक जीव, किसी वस्तु के स्वरूप को जैसा है, वैसा न जानकर, विपरीत जानता है, तब तक उसका वह ज्ञान, मिथ्याज्ञान कहलाता है। वही जीव, जब वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानने लगता है, तो उसका ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है।

'सा विद्या या विमुक्तये' ज्ञान वही है, जो हमें तिरने की कला सिखाए। लोक की चतुराई, चतुर्गति भ्रमण में ही कार्यकारी है। 'मैं आत्मा हूँ' - ऐसा जो स्वसंवेदनशील ज्ञान है, वह **परमार्थसम्यग्ज्ञान-निश्चयसम्यग्ज्ञान** है। चारित्र की अपूर्णता में सम्यग्ज्ञानी की कुछ प्रवृत्तियाँ होती हैं, जिसे **व्यवहारसम्यग्ज्ञान** कहते हैं। ऐसे व्यवहारसम्यग्ज्ञान को समझने के लिए आचार्यों ने सम्यग्ज्ञान के अष्ट अंग बताए हैं क्योंकि अंग को समझे बिना, अंगी (सम्यग्ज्ञान) को नहीं समझा जा सकता। सम्यग्ज्ञान के आठ अंग इस प्रकार हैं -

1. व्यंजनाचार—जहाँ मात्र शब्द के पाठ का ही जानपना हो, उसे व्यंजनाचार अंग कहते हैं। ठीक-ठीक से शब्दोच्चारण करना जरूरी है, अन्यथा श्रुत के अविनय का प्रसंग होता है। इसे शब्दाचार भी कहते हैं।

2. अर्थाचार—जहाँ केवल अर्थमात्र (भावपक्ष) के प्रयोजनसहित जानपना हो, उसे अर्थाचार कहते हैं। जैनधर्म, भावप्रधान है; अतः भावपक्ष समझे बिना, मात्र शब्दज्ञान, कार्यकारी नहीं है।

3. उभयाचार—जहाँ शब्द और अर्थ, दोनों में सम्पूर्ण जानपना हो, उसे शब्दार्थ - उभयाचार अंग कहते हैं।

इस प्रकार यह तीन अंगों का वर्णन किया। अब ज्ञान की आराधना कब-कैसे करें? उन्हें कहते हैं-

4. कालाचार—जिस काल, जिस ज्ञान का विचार-स्वाध्याय करना चाहिए, वही करना। सूर्योदय, सूर्यास्त, मध्याह्न और मध्यरात्रि, इनके एक-एक मुहूर्त के सन्ध्याकाल हैं; इन कालों को छोड़कर, शेष चार उत्तम कालों में, पठन-पाठनादिरूप स्वाध्याय करने को कालाचार कहते हैं।

चारों सन्ध्याकाल में, अष्टमी, चतुर्दशी को तथा दिग्दाह, उल्कापात, वज्रपात, इन्द्रधनुष, सूर्य-चन्द्रग्रहण, तूफान, भूकम्प आदि उत्पातों के काल में, सिद्धान्त-ग्रन्थों का पठन-पाठन वर्जित है। हाँ, स्तोत्र-आराधना, धर्म-कथादि के ग्रन्थ, पढ़ सकते हैं।

करणानुयोग के ऐसे कुछ क्लिष्ट ग्रन्थ, जिनके समझने में गलती हो सकती है, वे सब इस समय

पढ़ना निषिद्ध हैं। मजबूरी में, अन्य ग्रन्थ पढ़ सकते हैं। **राजमार्ग तो यह है कि इस समय का उपयोग सामायिक के लिए किया जाए।**

5. विनयाचार—किस रीति से ज्ञानाराधन करना? **विनयेन**= नम्रतायुक्त होना; उद्धत नहीं होना।

6. उपधानाचार—कैसी ज्ञान-आराधना होना चाहिए? **सोपधानं**= धारणासहित, ज्ञान को भूलना नहीं, उपधानसहित ज्ञान की आराधना करना, छठवाँ अंग है।

7. बहुमानाचार—बहुमानेन समन्वितम्= ज्ञान की पुस्तक - शास्त्र का अथवा पढ़ानेवाले का बहुत आदर करना, इन सहित ज्ञान का आराधन करना, सप्तम अंग है।

8. अनिह्नवाचार—अनिह्नवं = जिस शास्त्र अथवा गुरु से अपने को ज्ञान हुआ हो, उसे छिपाना नहीं चाहिए।

ये आठ अंग (सम्यग्ज्ञान की विनय के) हैं। **इन आठ अंगों का समग्ररूप से पालन होना, निरतिचार सम्यग्ज्ञान है।**

इन अंगों को सरलता से याद करने हेतु अमृतचन्द्राचार्य ने पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय ग्रन्थ के 36वें पद्य में कहा है -

ग्रन्थार्थोभयपूर्णं काले विनयेन सोपधानं च।
बहुमानेन समन्वितमनिह्नवं ज्ञानमाराध्यं॥

अध्यात्मशास्त्रों में वर्णित सम्यग्ज्ञान, निश्चय (परमार्थ) सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इस पाठ में उक्त आठ अंगों से युक्त जीव को सम्यग्ज्ञानी कहना, यह चरणानुयोग का निरूपण है। चरणानुयोग में व्यवहारसम्यग्ज्ञान की मुख्यता से कथन होता है। रत्नकरण्डश्रावकाचार ग्रन्थ में समागत सम्यग्ज्ञान का वर्णन, व्यवहारप्रधान शैली का है। वहाँ पद्य क्र. 42 का विषय इस प्रकार है -

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातथ्यं विना च विपरीतात्।
निःसंदेहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः॥

अर्थ - जो वस्तु के स्वरूप को यथार्थ जानता है, वह सम्यग्ज्ञान है और जो वस्तु के स्वरूप को अन्यथा (कम, ज्यादा अथवा विपरीत) जानता है, वह मिथ्याज्ञान है।

प्रश्न -

1. निश्चयसम्यग्ज्ञान तथा व्यवहारसम्यग्ज्ञान में अन्तर लिखें।
2. अंग-अंगी सम्बन्ध क्या है तथा किसमें होता है?
3. संधी काल का उत्तम उपयोग किसमें है और क्यों?
4. निम्न का शब्दार्थ लिखें -
   व्यंजन, उपधान, निह्नव, उभय

पाठ 7

शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति

पण्डित टोडरमल –

इस भव तरु का मूल इक, जानहु मिथ्याभाव।
ताको करि निर्मूल अब, करिए मोक्ष उपाव॥

इस संसाररूपी वृक्ष की जड़, एक मिथ्यात्व ही है; अत: उसको जड़-मूल से नष्ट करके ही मोक्ष का उपाय किया जा सकता है।

'जो जीव, जैन हैं; जिन-आज्ञा को मानते हैं, उनके भी मिथ्यात्व क्यों रह जाता है ?' हमें आज यह समझना है, क्योंकि मिथ्यात्व का अंश भी बुरा है और सूक्ष्म मिथ्यात्व भी त्यागने योग्य है।

दीवान रतनचन्द – जो जीव, जैन हैं, और जिन-आज्ञा को मानते हैं, फिर उनके मिथ्यात्व कैसे रह जाता है ? जिनवाणी में तो मिथ्यात्व की पोषक बात नहीं है।

पण्डित टोडरमल – ठीक कहते हो ! जिनवाणी में तो मिथ्यात्व की पोषक बात नहीं है पर जो जीव, जिनवाणी के अर्थ समझने की पद्धति नहीं जानते, वे उसके मर्म को तो समझ नहीं पाते; अपनी ही मति-कल्पना से अन्यथा समझ लेते हैं; अत: उनका मिथ्यात्व नहीं छूट पाता है।

दीवान रतनचन्द – तो क्या जिनवाणी के अर्थ समझने की कोई पद्धति भी है ?

पण्डित टोडरमल – क्यों नहीं ? प्रत्येक काम करने और प्रत्येक बात समझने का अपना एक तरीका होता है। जब तक हम उस तरीके को न समझ लें, तब तक कोई भी काम अच्छी तरह न तो कर ही सकते हैं और न कोई बात सहीरूप में समझ ही सकते हैं।

दीवान रतनचन्द – तो जिनवाणी के अर्थ समझने की पद्धति क्या है ?

पण्डित टोडरमल – जिनवाणी में निश्चय-व्यवहाररूप वर्णन है। निश्चय-व्यवहार का सही स्वरूप न समझने के कारण, सामान्यजन उसके मर्म को नहीं समझ पाते हैं। इसी प्रकार जिनवाणी को चार अनुयोगों की पद्धति में विभक्त करके लिखा गया है। प्रत्येक अनुयोग की अपनी-अपनी पद्धति अलग-अलग है। जब तक हम उस पद्धति को समझेंगे नहीं, तो जिनवाणी को पढ़कर भी उसके मर्म को नहीं जान पायेंगे।

दीवान रतनचन्द – कृपया आज हमें निश्चय-व्यवहार का स्वरूप और अनुयोगों की पद्धति के बारे में समझाइए।

पण्डित टोडरमल – निश्चय-व्यवहार[1] की बात तो विस्तार से कुछ दिन पूर्व ही समझा चुका हूँ तथा चार अनुयोगों[2] के बारे में भी एक दिन विस्तार से बताया था।

दीवान रतनचन्द – हाँ! उनकी सामान्य जानकारी तो हमें है, पर हम तो आज उन शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति को समझना चाहते हैं।

पण्डित टोडरमल – आपको निश्चय-व्यवहार का स्वरूप ज्ञात है, तो बोलिए निश्चय किसे कहते हैं और व्यवहार किसे ?

दीवान रतनचन्द – 'यथार्थ का नाम निश्चय है और उपचार का नाम व्यवहार' अथवा इस प्रकार भी कह सकते हैं कि 'एक ही द्रव्य के भाव को उस स्वरूप ही निरूपण करना, निश्चयनय है और उस द्रव्य के भाव को अन्य द्रव्य के भावस्वरूप वर्णन करना, सो व्यवहारनय है।'

पण्डित टोडरमल – तब तो आपको यह भी मालूम होगा कि व्यवहारनय, स्वद्रव्य-परद्रव्य को, उनके भावों को व कारण-कार्यादि को, किसी को किसी में मिलाकर निरूपण करता है और निश्चयनय उन्हीं का यथावत् निरूपण करता है; किसी को किसी में नहीं मिलाता है।

दीवान रतनचन्द – हाँ! यह भी मालूम है।

पण्डित टोडरमल – अच्छा तो बताओ मनुष्य-तिर्यंच कौन हैं ?

दीवान रतनचन्द – जीव।

पण्डित टोडरमल – जीव ?

दीवान रतनचन्द – जिनवाणी में भी उन्हें जीव ही लिखा है।

पण्डित टोडरमल – हाँ भाई! जिनवाणी में व्यवहार से नर-नारकादि पर्याय को जीव कहा, सो पर्याय ही को जीव नहीं मान लेना। पर्याय तो जीव-पुद्गल के संयोगरूप है। वहाँ निश्चय से जीवद्रव्य भिन्न है, उसको ही जीव मानना। जीव के संयोग से शरीरादि को भी उपचार से जीव कहा, सो कथनमात्र ही है; परमार्थ से शरीरादि जीव होते नहीं।

इसी प्रकार अभेद आत्मा में ज्ञान-दर्शनादि भेद किए, सो उन्हें भेदरूप ही नहीं मान लेना, क्योंकि भेद तो समझाने के लिए किए हैं। निश्चय से आत्मा, अभेद ही है, उस ही को जीववस्तु मानना। संज्ञा-संख्यादि से भेद कहे, सो कथनमात्र ही हैं; परमार्थ से भिन्न-भिन्न हैं नहीं।

---

1. मंगल प्रभावना, भाग-1, पाठ-3
2. मंगल शासन, भाग-2, पाठ-6

दीवान रतनचन्द – तो इसी प्रकार व्रत-शील-संयमादि को व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा होगा ?

पण्डित टोडरमल – परद्रव्य का निमित्त[1] मिटने की अपेक्षा से व्रत-शील-संयमादि को मोक्षमार्ग कहा, सो इन्हीं को मोक्षमार्ग नहीं मान लेना, क्योंकि परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा के हो तो आत्मा, परद्रव्य का कर्ता-हर्ता हो जावे, परन्तु कोई द्रव्य किसी द्रव्य के आधीन है नहीं; अतः आत्मा अपने रागादि को त्याग कर, वीतरागी होता है। निश्चय से वीतरागभाव ही मोक्षमार्ग है।

इसीलिए तो कहा था कि जब तक हम यह न पहिचान पाएँ कि जिनवाणी में जो कथन है, उसमें कौन-सा तो सत्यार्थ है और कौन-सा समझाने के लिए व्यवहार से कहा गया है, तब तक हम सबको एक-सा सत्यार्थ मानकर भ्रमरूप रहते हैं।

दीवान रतनचन्द – तो जिनवाणी में व्यवहार का कथन किया ही क्यों है ?

पण्डित टोडरमल – व्यवहार के बिना, परमार्थ को समझाया नहीं जा सकता; अतः असत्यार्थ होने पर भी, जिनवाणी में व्यवहार का कथन आता है।

दीवान रतनचन्द – व्यवहार के बिना निश्चय का उपदेश कैसे नहीं हो सकता ?

पण्डित टोडरमल – निश्चयनय से तो आत्मा परद्रव्यों से भिन्न, स्वभाव से अभिन्न, स्वयंसिद्ध वस्तु है; उसे जो नहीं पहिचानते, उनसे इसी प्रकार कहते रहें तो वे समझ नहीं पावेंगे; अतः उन्हें समझाने हेतु व्यवहार से शरीरादि परद्रव्यों की सापेक्षता द्वारा, नर-नारकादिरूप जीव के विशेष किए तथा मनुष्य जीव, नारकी जीव आदिरूप से जीव की पहिचान कराई। इसी प्रकार अभेद वस्तु में भेद उत्पन्न करके समझाया। जैसे – जीव के ज्ञानादि गुण-पर्यायरूप भेद करके स्पष्ट किया कि जाने सो जीव, देखे सो जीव।

जिस प्रकार म्लेच्छ को म्लेच्छ भाषा के बिना समझाया नहीं जा सकता; उसी प्रकार व्यवहारीजनों को व्यवहार बिना, निश्चय का ज्ञान नहीं कराया जा सकता है।

दीवान रतनचन्द – तो हमें कैसा मानना चाहिए ?

पण्डित टोडरमल – जहाँ निश्चयनय की मुख्यता से कथन हो, उसे तो 'सत्यार्थ ऐसे ही हैं' ऐसा जानना और जहाँ व्यवहारनय की मुख्यता से कथन हो, उसे 'ऐसा है नहीं; निमित्त आदि की अपेक्षा उपचार किया है' – ऐसा जानना।

दीवान रतनचन्द – व्यवहारनय, पर को उपदेश देने में ही कार्यकारी है या अपना भी प्रयोजन साधता है ?

---

1. पर (निमित्त) की ओर का लक्ष्य छुड़ाने के लिए

पण्डित टोडरमल – आप भी जब तक निश्चयनय से प्ररूपित वस्तु को न पहिचानें, तब तक व्यवहारमार्ग से वस्तु का निश्चय करें; अत: निचली दशा में अपने को भी व्यवहारनय कार्यकारी है; परन्तु व्यवहार को उपचार मानकर, उसके द्वारा वस्तु को ठीक प्रकार समझे, तब तो कार्यकारी है; किन्तु यदि निश्चयवत् व्यवहार को भी सत्यभूत मानकर, 'इस प्रकार ही है' – ऐसा श्रद्धान करे, तो उल्टा अकार्यकारी हो जाए।

इसी प्रकार चारों अनुयोगों के कथन को ठीक प्रकार से न समझने के कारण वस्तु के सत्यस्वरूप को नहीं समझ पाते हैं; अत: चारों अनुयोगों के व्याख्यान का विधान अच्छी तरह समझना चाहिए।

दीवान रतनचन्द – प्रथमानुयोग के व्याख्यान के विधान को संक्षेप में समझाइए।

पण्डित टोडरमल – प्रथमानुयोग में संसार की विचित्रता, पुण्य-पाप का फल, महापुरुषों की प्रवृत्ति आदि बताकर, जीवों को धर्म में लगाया जाता है। प्रथमानुयोग में मूल कथाएँ तो जैसी की तैसी होती हैं, पर उनमें प्रसंग-प्राप्त व्याख्यान कुछ ज्यों का त्यों और कुछ ग्रन्थकर्ता के विचारानुसार होता है परन्तु प्रयोजन अन्यथा नहीं होता। जैसे – तीर्थंकरों के कल्याणकों में इन्द्र आए, यह तो सत्य है; पर इन्द्र ने जैसी स्तुति की थी, वे शब्द, हूबहू वैसे ही नहीं थे; अन्य थे। इसी प्रकार परस्पर किन्हीं के वार्तालाप हुआ था, सो उनके अक्षर तो अन्य निकले थे, ग्रन्थकर्ता ने अन्य कहे, पर प्रयोजन एक ही पोषते हैं।

तथा कहीं-कहीं प्रसंगरूप कथाएँ भी ग्रन्थकर्ता अपने विचारानुसार लिखते हैं। जैसे, 'धर्मपरीक्षा' में मूर्खों की कथाएँ लिखीं, सो वही कथा मनोवेग ने कही थी, ऐसा नियम नहीं है; किन्तु मूर्खपने का पोषण करनेवाली कही थी।

प्रथमानुयोग में कोई धर्मबुद्धि से अनुचित कार्य करे, उसकी भी प्रशंसा करते हैं। जैसे – विष्णुकुमारजी ने धर्मानुराग से मुनियों का उपसर्ग दूर किया। मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नहीं था परन्तु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमारजी की प्रशंसा की है। इस छल से औरों को ऊँचा धर्म छोड़कर, नीचा धर्म अंगीकार करना योग्य नहीं है।

पुत्रादि की प्राप्ति के लिए अथवा रोग, कष्टादि को दूर करने के लिए स्तुति, पूजादि कार्य करना; निष्कांक्षित अंग का अभाव होने से एवं निदान नामक आर्तध्यान होने से, पापबन्ध का कारण है किन्तु मोहित होकर बहुत पापबन्ध का कारण कुदेवादि का सेवन तो नहीं किया; अत: उसकी प्रशंसा कर दी है। ऐसे छल से औरों को लौकिक कार्यों के लिए धर्मसाधन करना युक्त नहीं है।

दीवान रतनचन्द – करणानुयोग के व्याख्यान का विधान क्या है ?

पण्डित टोडरमल – करणानुयोग में केवलज्ञानगम्य वस्तु का व्याख्यान है; केवलज्ञान में तो सर्व लोकालोक आया है परन्तु इसमें जीव को कार्यकारी, छद्मस्थ के ज्ञान में आ सके, ऐसा निरूपण होता

है। जैसे – जीव के भावों की अपेक्षा, गुणस्थान कहे हैं, सो भाव तो अनन्त हैं, उन्हें तो वाणी से कहा नहीं जा सकता; अत: बहुत भावों की एक जाति करके चौदह गुणस्थान कहे हैं।

करणानुयोग में भी कहीं उपदेश की मुख्यतासहित व्याख्यान होता है, उसे सर्वथा उसी प्रकार नहीं मानना। जैसे – छुड़ाने के अभिप्राय से हिंसादि के उपाय को कुमतिज्ञान कहा। वास्तव में तो मिथ्यादृष्टि के सभी ज्ञान, कुज्ञान हैं और सम्यग्दृष्टि के सभी ज्ञान, सुज्ञान हैं।

दीवान रतनचन्द – और चरणानुयोग में किस प्रकार का कथन होता है ?

पण्डित टोडरमल – चरणानुयोग में जिस प्रकार जीवों के अपनी बुद्धिगोचर धर्म का आचरण हो, वैसा उपदेश दिया जाता है। इसमें व्यवहारनय की मुख्यता से कथन किया जाता है; क्योंकि निश्चयधर्म के तो कुछ ग्रहण-त्याग का विकल्प है ही नहीं; अत: इसमें दो प्रकार से उपदेश देते हैं; एक तो मात्र व्यवहार का और एक निश्चयसहित व्यवहार का। व्यवहार उपदेश में तो बाह्यक्रियाओं की ही प्रधानता है; परन्तु निश्चयसहित व्यवहार के उपदेश में परिणामों की ही प्रधानता है।

दीवान रतनचन्द – अकेले व्यवहार का उपदेश किसके लिए है और निश्चयसहित व्यवहार का किसके लिए ?

पण्डित टोडरमल – जिन जीवों के निश्चय का ज्ञान नहीं है तथा उपदेश देने पर भी होता दिखाई नहीं देता, उन्हें तो अकेले व्यवहार का उपदेश देते हैं तथा जिन जीवों को निश्चय-व्यवहार का ज्ञान हो अथवा उपदेश देने पर होना सम्भव हो, उन्हें निश्चयसहित व्यवहार का उपदेश देते हैं। चरणानुयोग में कहीं-कहीं कषायी जीवों को कषाय उत्पन्न करके भी पाप छुड़ाते हैं। जैसे – पाप का फल नरकादि दु:ख दिखाकर, भयकषाय उत्पन्न करके, धर्म कार्यों में लगाते हैं। इसी प्रकार शरीरादि को अशुचि बताकर, जुगुप्साकषाय कराते हैं और पुत्रादि को धनादि का ग्राहक बताकर, द्वेष कराते हैं। पूजा, दान, नामस्मरणादि का फल पुत्र-धनादि की प्राप्ति का लोभ बताकर, धर्मकार्यों में लगाते हैं। इस प्रकार चरणानुयोग में व्याख्यान होता है; अत: उसका प्रयोजन जानकर यथार्थ श्रद्धान करना चाहिए।

दीवान रतनचन्द – इसी प्रकार द्रव्यानुयोग की भी अपनी अलग पद्धति होती होगी ?

पण्डित टोडरमल – क्यों नहीं ? द्रव्यानुयोग में जीवों को जीवादि तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान जिस प्रकार हो, उस प्रकार विशेष युक्ति, हेतु, दृष्टान्तादि से वर्णन करते हैं; क्योंकि इसमें यथार्थ श्रद्धान कराने का प्रयोजन है। जैसे स्व-पर भेदविज्ञान हो, वैसे जीव-अजीव का एवं जैसे वीतरागभाव हो, वैसे आस्रवादि का वर्णन करते हैं; आत्मानुभव की महिमा गाते हैं एवं व्यवहारकार्य का निषेध करते हैं। जो जीव आत्मानुभव का उपाय नहीं करते और बाह्य क्रियाकाण्ड में ही मग्न हैं, उनको वहाँ से उदास करके आत्मानुभव आदि में लगाने को व्रत, शील, संयमादि का हीनपना भी प्रगट करते हैं। शुभोपयोग का निषेध, अशुभोपयोग में लगाने को नहीं करते हैं; किन्तु शुद्धोपयोग में लगाने के लिए करते हैं।

इस प्रकार चारों अनुयोगों की कथन पद्धति अलग-अलग है; परन्तु सबका एकमात्र प्रयोजन, वीतरागता का पोषण है। कहीं तो बहुत रागादि छुड़ाकर, अल्प रागादि कराने का प्रयोजन पोषण किया है, कहीं सर्व रागादि छुड़ाने का पोषण किया है किन्तु रागादि बढ़ाने का प्रयोजन कहीं भी नहीं है।

बहुत क्या कहें, जिस प्रकार से रागादि मिटाने का श्रद्धान हो वही श्रद्धान सम्यग्दर्शन है; जिस प्रकार से रागादि मिटाने का जानना हो, वही जानना सम्यग्ज्ञान है तथा जिस प्रकार से रागादि मिटें, वही आचरण सम्यक्चारित्र है।

अत: प्रत्येक अनुयोग की पद्धति का यथार्थ ज्ञान कर, जिनवाणी के रहस्य को समझने का यत्न करना चाहिए।

दीवान रतनचन्द - शास्त्रों के अध्ययन में कहीं-कहीं परस्पर विरोध भासित हो तो क्या करें ?

पण्डित टोडरमल - जिनवाणी में परस्पर विरोधी कथन नहीं होते हैं। हमें अनुयोगों की कथन पद्धति का एवं निश्चय-व्यवहार का सही ज्ञान नहीं होने से विरोध भासित होता है। यदि हमें शास्त्रों के अर्थ समझने की पद्धति का ज्ञान हो जावे तो विरोध प्रतीत नहीं होगा; अत: सदा आगम-अभ्यास का प्रयास रखना चाहिए। मोक्षमार्ग में पहला उपाय आगम ज्ञान कहा है; अत: तुम यथार्थ बुद्धि द्वारा आगम का अभ्यास किया करो ! तुम्हारा कल्याण अवश्य होगा !!

प्रश्न -

1. व्यवहार बिना निश्चय का उपदेश क्यों नहीं हो सकता ? स्पष्ट कीजिए।
2. क्या व्यवहारनय स्वयं के लिए भी प्रयोजनवान है ? यदि हाँ, तो कैसे ?
3. चारों अनुयोगों के व्याख्यान के विधान का वर्णन कीजिए।

जीवन को सुखमय बनाना है तो

समालोचक बनो पर निंदक नहीं।	दृढ़ बनो पर हठी नहीं।
नम्र बनो पर चापलूस नहीं।	भले बनो पर दुर्बल नहीं।
क्षमाशील बनो पर डरपोक नहीं।	प्रेमी बनो पर पागल नहीं।
खरे बनो पर खारे नहीं।	न्यायी बनो पर निर्दयी नहीं।
स्पष्ट बनो पर उद्दण्ड नहीं।	उत्साही बनो पर जल्दबाज नहीं।
चतुर बनो पर कुटिल नहीं।	धीर बनो पर सुस्त नहीं।
मितव्ययी बनो पर कंजूस नहीं।	सावधान बनो पर वहमी नहीं।
गंभीर बनो पर मनहूस नहीं।	सरल बनो पर मूर्ख नहीं।

पाठ 8

अभाव

'स्यात्' मुद्रा से अंकित होने से, जैनशासन की पावनता असंदिग्ध है। वस्तु, सर्वथा एकान्तमय (एक धर्मवाली) नहीं है; वरन् अनेकान्तमयी है अर्थात् परस्पर विरोधी-जैसे लगनेवाले अनंत धर्म-युगलोंवाली है। ये धर्म-युगल, बराबर की हैसियत से विद्यमान रहते हैं। किसी भी धर्म का लोप, उस धर्म के प्रतिपक्षी धर्म को भी बर्दाश्त नहीं है, अन्यथा वस्तु के ही लोप का प्रसंग बनेगा। इस पाठ में हम वस्तु के अभावधर्म को आत्मसात् करते हैं।

प्रत्येक वस्तु भाव-अभावात्मक है अर्थात् प्रत्येक वस्तु, **है** भी और **नहीं** भी है। 'वस्तु है' यह बात तो हमें शीघ्रता से समझ में आती है, पर 'वस्तु नहीं है' - यह बात, हमारे गले नहीं उतरती। हम भूल जाते हैं कि यह कथन एकान्तरूप नहीं है अर्थात् यह कथन किसी अपेक्षा से किया गया है। एक **वस्तु**, अन्य वस्तु में **नहीं है**, यह बात हमारी समझ में शीघ्रता से आ जाती है। उदाहरण के तौर पर, आम **है** भी और **नहीं** भी है अर्थात् **आम,** आम ही **है** और **आम,** केला, सन्तरादि **नहीं है**। **आत्मा,** आत्मा ही **है** और शरीरादि, आत्मा **नहीं है**।

जो मत या दर्शन, एकान्तवादी हैं; वे 'वस्तु नहीं है' कहने में वस्तु को सर्वथा अभावात्मक ही मानते हैं, किसी भी अपेक्षा से वस्तु की अस्ति नहीं मानते; वे तुच्छाभाव (सर्वथा अभाव) को मानते हैं।

इसके विपरीत, जैनशासन (युक्त्यनुशासन ग्रन्थ) में **''भवत्यभावोऽपि च वस्तुधर्मा, भावान्तरं भाववदर्हतस्ते''** - ऐसा माना है अर्थात् हे अरहन्त भगवान! आपके अनुसार **भावान्तर स्वभाववाला अभाव** भी वस्तु का धर्म है।

एक वस्तु का, अन्य वस्तु में न होना, अभाव है। वस्तु (अर्थ, पदार्थ), यह संज्ञा द्रव्य, गुण तथा पर्याय तीनों की है, ऐसा हम **'अर्थ-व्यवस्था'*** पाठ में समझ चुके हैं। अब, अभाव की परिभाषा में आई वस्तु की जगह, हम क्रमशः द्रव्य, गुण तथा पर्याय को रखकर समझते हैं।

जैनदर्शन में अभाव के **चार** भेदों को स्वीकार किया गया है -

(1) अत्यंताभाव, (2) प्रागभाव, (3) प्रध्वंसाभाव, (4) अन्योन्याभाव।

(1) अत्यंताभाव

एक द्रव्य का, अन्य द्रव्य में नहीं होना, अत्यंताभाव कहलाता है। अत्यंताभाव पृथक्-पृथक् वस्तुओं में होता है। जिन वस्तुओं का चतुष्टय ही अलग हो अर्थात् द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव अलग-अलग हो, ऐसी वस्तुओं को पृथक्-पृथक् (भिन्न-भिन्न) कहते हैं।

विश्व में जाति अपेक्षा, छह द्रव्य हैं और संख्या अपेक्षा, अनन्तानन्त द्रव्य हैं। जीवद्रव्य, न कभी पुद्गलद्रव्यरूप होता है, न धर्म, अधर्म, आकाश अथवा कालरूप। अरे भाई! एक जीवद्रव्य, अन्य जीवद्रव्यरूप भी नहीं होता है। एक जीवद्रव्य में, अन्य जीवद्रव्य की तो पूरी तरह नास्ति है।

सिद्धलोक में अनन्त सिद्ध, एक स्थान पर रहते हुए भी, उनके चतुष्टय अलग-अलग होने से, उनमें परस्पर अत्यंताभाव है; अतः किसी सिद्ध-भगवान का सुख, कोई अन्य सिद्ध भगवान भोगें - यह असम्भव है। छहों द्रव्य, एकक्षेत्रावगाहरूप से तिष्ठते (रहते) हुए, कोई द्रव्य, अपनी व्यक्तिता (स्वतन्त्र अस्तित्व) को नहीं छोड़ता। कोई द्रव्य, किसी अन्य द्रव्य को, स्पर्श नहीं करता, परिणमित नहीं कराता। द्रव्यों को, यह वस्तु-स्वातन्त्र्य, **अत्यंताभाव** ने प्रदान किया है।

अत्यंताभाव की परिभाषा अष्टसहस्री ग्रन्थ में **'कालत्रयापेक्षा-भावोऽत्यन्ताभावः'** - ऐसी बताई गई है। यह त्रैकालिक अभाव है अर्थात् एक द्रव्य, अन्य द्रव्यरूप न पहले कभी था, न आज है, न कभी भविष्य में होगा।

एक द्रव्य का, अन्य द्रव्यों के गुण तथा पर्याय में भी अत्यंताभाव ही है। एक द्रव्य के गुण अथवा पर्याय का अन्य द्रव्य के गुण अथवा पर्याय में भी अत्यंताभाव ही है; क्योंकि जहाँ पर प्रदेश भिन्न हैं, वहाँ वस्तुओं में अत्यंताभाव ही होता है।

---

* मंगल प्रज्ञा, भाग-2, पाठ - 6

(2) प्रागभाव

वर्तमान पर्याय का पूर्व पर्याय में न होना, प्रागभाव (प्राक्+अभाव) कहलाता है। प्राक्=पहले, अभाव=नहीं होना। उदाहरण के रूप में, केवलज्ञान की पर्याय का विगत श्रुतज्ञान की पर्याय में प्रागभाव है। आम की पकी अवस्था का, कच्ची अवस्था में प्रागभाव है। इस प्रकार छहों द्रव्यों में लगाना चाहिए।

प्रागभाव न मानने से, भारी आपत्ति आएगी। प्रागभाव न मानने से वर्तमानकालीन प्रत्येक पर्याय को अनादिकालीन स्थायी मानना पड़ेगा; परिवर्तन के लिए कहीं, कोई किसी भी प्रकार का अवसर ही नहीं रहेगा। चार गति, चौरासी लाख योनियों के लोप का प्रसंग बनेगा। जो आज भगवान (मुक्त) हुए हैं, उनको अनादि से भगवान (मुक्त) मानना पड़ेगा। आज के भगवान की पामररूप (बंधनरूप) पूर्व अवस्था का लोप होने से, पुरुषार्थ से मोक्ष की प्राप्ति, मानने में आपत्ति आएगी। फिर जैनदर्शन भी सर्वथा दैववादी हो जाएगा और श्रमणवाद संकट के घेरे में आ जाएगा।

वस्तु-स्वातन्त्र्य कहता है कि आगे-पीछे की पर्यायें भी स्वतन्त्र सत् हैं। ये पर्यायें भी भाव -अभावरूप हैं। ये पर्यायें अपने से सत्‌रूप हैं और पूर्व पर्याय के सत्‌रूप से नहीं हैं।

किसी भी पर्याय का परिमाण-काल, एक समय का है; न कम, न ज्यादा; इसीलिए कोई भी पर्याय, न पूर्व की पर्याय में व्याप्त होती है, न आगामी पर्याय में।

(3) प्रध्वंसाभाव

वर्तमान पर्याय का आगामी (आनेवाली / अनागत) पर्याय में नहीं होना, प्रध्वंसाभाव कहलाता है।

प्र=प्रकृष्टरूप से; ध्वंस=नाश में; अभाव=नहीं होना, प्रध्वंसाभाव है। उदाहरण के रूप में, श्रुतज्ञान का, आगामी पर्याय केवलज्ञान में प्रध्वंसाभाव है। आम की कच्ची अवस्था का, पकी अवस्था में प्रध्वंसाभाव है। इसी प्रकार छहों द्रव्यों में लगाना चाहिए।

प्रध्वंसाभाव न मानने से भारी आपत्ति आएगी। प्रध्वंसाभाव न मानने से प्रत्येक कार्य (पर्याय) को अनन्त-काल तक स्थायी मानना पड़ेगा। परिवर्तन के लिए कहीं, कोई, किसी भी प्रकार का अवसर ही नहीं रहेगा। गरीब, सदा गरीब रहेगा; धनी, सदा धनी रहेगा; अज्ञानी, सदा अज्ञानी; विद्वान, सदा विद्वान रहेगा। अरे! यह सब तो दूर ही रहो; निगोदिया, सदा निगोदिया ही रहेगा; हम भी अनन्त कालपर्यंत संसार में ही पड़े रहेंगे; पुरुषार्थवादी जैनशासन, ईश्वरवादी और भाग्यवादी हो जाएगा और श्रमण-परम्परा पर फिर प्रश्न-चिह्न लग जाएगा। कोई भी पर्याय अपनी सत्तारूप तो है, परन्तु अनागत पर्यायरूपी सत्‌रूप नहीं है।

(4) अन्योन्याभाव

वर्तमान कालीन एक पुद्गलस्कन्ध का, वर्तमान कालीन दूसरे पुद्गलस्कन्ध में नहीं होना, अन्योन्याभाव है।

अन्योन्याभाव को स्पष्ट करते हुए अष्टसहस्री में कहा है –

'स्वभावान्तरात्स्वभाव-व्यावृत्तिरन्यापोहः'

अर्थात् **स्वभावान्तर से स्वभाव की पृथक्ता, अन्यापोह है।** अन्यापोह को इतरेतराभाव अथवा अन्योन्याभाव भी कहते हैं। उदाहरण के रूप में, टेबल का कुर्सी में; शरीर का मकान में; आहारवर्गणा का कार्मणवर्गणा में; शरीर का औषधि में, अन्योन्याभाव है।

अन्योन्याभाव, एकमात्र वर्तमानकालीन पुद्गलस्कन्धों में ही घटित होता है; अन्य द्रव्यों या पर्यायों में नहीं। पुद्गलस्कन्धों की अपनी एक विशेषता है; वह यह कि यद्यपि वर्तमानकालीन विविध स्कन्ध, एक-दूसरे रूप नहीं होने से, एक-दूसरे का कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हैं; तथापि वे कालान्तर में अन्य-अन्यरूप हो सकते हैं। जैसे – वर्तमानकालीन वस्त्र और बर्तन, पृथक्-पृथक् स्कन्ध होने से एक-दूसरे का कुछ भी कार्य करने में समर्थ नहीं हैं; तथापि कालान्तर में वस्त्रगत परमाणु, बर्तन हो सकते हैं और बर्तनगत परमाणु, वस्त्र हो सकते हैं अर्थात् वस्त्र-बर्तन, अभी पृथक्-पृथक् हैं; त्रैकालिक नहीं, इसे ही अन्योन्याभाव कहते हैं। यह विशेषता मात्र पुद्गलस्कन्ध में ही होने से, यह अन्योन्याभाव भी मात्र उनमें ही घटित होता है। इसे हम इस प्रकार भी कह सकते हैं कि पुद्गल की वर्तमान-कालीन विभावपर्यायों का पारस्परिक अभाव, अन्योन्याभाव है।

अन्योन्याभाव को नहीं मानने से एक पुद्गलस्कन्ध, अन्य पुद्गल- स्कन्धरूप हो जाने का प्रसंग आएगा। इससे पर्वत, पत्थर, चैत्य-चैत्यालय, नदी, मेरु आदि की विविधता सम्भव नहीं होगी। चरणानुयोग में वर्णित भक्ष्य-अभक्ष्य, रस-परित्याग आदि की मर्यादाएँ भी लुप्त हो जाने का प्रसंग आएगा।

इन चार अभावों के अलावा, आचार्य कुन्दकुन्दस्वामी ने प्रवचनसार की 106, 107 तथा 108 गाथा में इन अभावों को दो भागों में विभक्त किया है – 1. विभक्त प्रदेशत्वरूप पृथक्त्व और 2. अविभक्त प्रदेशत्वरूप अन्यत्व।

पहले विभक्त प्रदेशत्वरूप पृथक्त्व को अत्यंताभाव कहते हैं। अन्यत्वरूप अविभक्त प्रदेशत्व में प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव के साथ ही गुण-गुणी आदि में कथंचित् भेद बतानेवाला तद्-अभाव / अतद्भाव भी गर्भित है। जिसका स्वरूप इस प्रकार है –

तद् अभाव

किसी द्रव्य का, अपने ही गुण अथवा पर्याय में नहीं होना, तद् अभाव कहलाता है। तद् अभाव को तदभाव, अतद्भाव, अन्यत्व, अन्यता भी कहते हैं। तदभाव, अन्य-अन्य वस्तुओं में लगता

है। ध्यान रखना! अन्य -अन्य, वे वस्तुएँ हैं, जिनके प्रदेश तो एक हैं, पर स्वरूप, अलग-अलग है; अत: अन्य का अर्थ, भिन्न नहीं है।

उदाहरण के रूप में, आत्मा का ज्ञान में, आत्मा का मतिज्ञान में, ज्ञानगुण का मतिज्ञानपर्याय में तथा ज्ञान का आत्मा में, मतिज्ञान का आत्मा में, मतिज्ञानपर्याय का ज्ञानगुण में तदभाव है। यह, जैनशासन में प्रतिपादित वस्तु-स्वातन्त्र्य की चरमसीमा है। न आत्मा, ज्ञान हो सकता है; न ज्ञान, आत्मा हो सकता है; क्योंकि आत्मा और ज्ञान, दोनों का स्वरूप न्यारा-न्यारा है। एक वस्तु, दूसरी वस्तुरूप होने से समस्त वस्तुओं का लोप होगा। यही आपत्ति, ज्ञानगुण और मतिज्ञान में समझना। यदि ज्ञानगुण, मतिज्ञानरूप हो जाए तो भविष्य में केवलज्ञान के लोप का प्रसंग होगा। इतना ही नहीं, ज्ञानगुण का अन्त होगा और गुण के अन्त होने से द्रव्य के अस्तित्व की सिद्धि असम्भव होगी।

इसी प्रकार, एक द्रव्य के दो गुणों तथा दो समवर्ती पर्यायों (अलग-अलग गुणों की) में परस्पर तदभाव है। एक गुण का अन्य गुण में तथा एक गुण की पर्याय का समवर्ती अन्य गुण की पर्याय में तदभाव है।

वस्तु-स्वातन्त्र्य, जैनशासन का प्राण है। द्रव्य, सत्; गुण, सत् तथा पर्याय भी सत् ही है। हमारे अनन्त दु:खों का कारण इस वस्तु-स्वातन्त्र्य का अज्ञान है। द्रव्यकर्म, नोकर्म तथा अनादिकालीन भावकर्म हमारे आत्मकल्याण में बाधक नहीं हैं, वरन् हमारा आत्मविमुख-परिणाम ही हमें बाधक है। देव-शास्त्र-गुरु के भरोसे हमारा काम बन जाए, ऐसा भी नहीं है। हमारा आत्मसन्मुखपरिणाम ही हमारा साधक है।

प्रश्न -

1. अभाव किसे कहते हैं ? जैनेतरों ने अभाव को किसरूप माना है ?
2. प्रागभाव मानने से क्या लाभ है, तथा नहीं मानने से क्या हानि है ?
3. तदभाव पर प्रकाश डालें।
4. अन्योन्याभाव क्या है ? यह पुद्गल में ही क्यों घटित होता है ?
5. प्रध्वंसाभाव न मानने से क्या आपत्ति आती है ?

साँच को आँच नहीं

सुदर्शन सेठ के रूप-सौन्दर्य पर मुग्ध होकर रानी ने श्मशान के पास सामायिक करते हुए सेठ को नौकरों से उठवाकर मंगवा लिया। रानी ने सेठ में वासना जागृत करने के लिए बहुत प्रयत्न किए किंतु सेठ विचलित नहीं हुए। तब रानी ने ढोंग बनाकर राजा से रोकर शिकायत कर दी कि यह सेठ मेरा शील हरण करने आया था। राजा ने सेठ को सूली की सजा सुना दी, किंतु सेठ के पुण्य प्रताप से सूली भी सिंहासन बन गई।

पाठ 9

जैनाचार का मुख्य अंग – रात्रि-भोजन-त्याग

जब हम इतिहास के पन्ने पलटकर देखते हैं, तब हमारी छाती जितनी चौड़ी हो जाती है, उतनी ही द्रवित भी। देश की आजादी के लिए शहीदों ने अपने खून की होलियाँ खेलकर, जैसे देश को आजाद किया, ठीक उसी प्रकार हमारे पूर्वजों ने जैनत्व की गरिमा अक्षुण्ण बनाए रखने के लिए प्राणों की भी परवाह नहीं की है। आततायी मुगलों के द्वारा, जैनियों को, रात्रि-भोजन की बाध्यता के लिए, दिन में भोजन से वंचित रखा जाता था। प्रत्येक जैनी-घर के बाहर कड़े पहरे लगे रहते थे। जैनियों ने दिनों, महीनों भूखे रहकर भी, अपने जैनत्व पर आँच नहीं आने दी। जैनियों की इस दृढ़-नीति को देखकर ही, अंग्रेजों के जमाने में विक्टोरिया रानी तक ने देश भर में यह आदेश जारी किया था कि जैनी जहाँ पर भी सेवारत हों, उन्हें उनके मालिक, सूर्यास्त के एक घण्टे पूर्व ही निवृत्त करें। आज, स्थितियाँ बदलती जा रही हैं। यदि आज हम न चेते, तो पूर्वजों के प्रति अनर्थकारी अपकार होगा और भावी पीढ़ी भी हमें क्षमा करनेवाली नहीं है। इस समय मैथिलीशरण गुप्त के ये वचन याद आते हैं –

हम क्या थे, और क्या हो गये हैं अब,
आओ मिलकर विचारें ये समस्याएँ सब।

इस पाठ में रात्रि-भोजन-त्याग का सांगोपांग विवेचन किया जाएगा।

रात्रि का एक अर्थ विभावरी है। रात्रि, विभावों का आयतन है, तभी तो समस्त पापों की प्रचुरता रात्रि में ही होती है। आचार्यों ने इस तथ्य का ध्यान रखते हुए, कहीं रात्रि-गमन का निषेध किया है, तो कहीं रात्रि में बोलने तक का। जब रात्रि में सभी आरम्भ, विशेष पापवर्धक होने से निषिद्ध हैं, तो रात्रि-भोजन इससे अछूता कैसे रह सकता है ?

आगम में, रात्रि-भोजन-त्याग का सद्भाव, श्रावक के आठ मूलगुणों के अन्तर्गत किया है। सदासुखदासजी कहते हैं – **जिनेन्द्रधर्म के धारक, रात्रि-भोजन कभी भी नहीं करते हैं – ऐसी सनातन रीति अभी तक चली आ रही है। करोड़ों मनुष्यों में यह बात प्रसिद्ध है कि जिनधर्मी रात्रि में भोजन नहीं करते।** जब रात्रि-भोजन-त्याग, श्रावकों के उन कर्तव्यों में है, जिन्हें मूलगुण कहा है, तब यदि कोई इसका पालन नहीं करता है, तो उसे श्रावक कोटि में गिना जाना ही उचित नहीं होगा ?

इस पर, **यदि कोई यह कहे कि** रात्रिभुक्तित्याग तो छठवीं प्रतिमा है। इसका **समाधान** यह है कि

छठवीं प्रतिमा को कई ग्रन्थकारों ने तो दिवा-मैथुन-त्याग नाम से कहा है। हाँ! कुछ ने रात्रि-भुक्ति-त्याग नाम से भी वर्णन किया है, जिसका मतलब यही हो सकता है कि इसके पहले रात्रि-भोजन-त्याग में कुछ अतिचार लगते थे; उनका इस छठवीं प्रतिमा में पूर्णरूप से त्याग हो जाता है। यदि ऐसा न माना जाए तो रात्रि-भोजन-त्याग का मूलगुणों में क्यों कथन किया गया? बल्कि वसुनन्दि-श्रावकाचार में यहाँ तक कहा है कि, रात्रि-भोजन करनेवाला ग्यारह प्रतिमाओं में से पहली प्रतिमा का धारी भी नहीं हो सकता। यथा -

एयादसेसु पढगं वि जदो णिसिभोयणं कुणंतस्स।
ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तिं परिहरे णियमा ॥314॥ (वसुनन्दिश्रावकाचार)

हरिवंशपुराण में यहाँ तक कहा है कि - 'मद्य, मांस, मधु, जुआ, वेश्या, परस्त्री, रात्रि-भोजन, कन्दमूल इनका तो सर्वथा ही त्याग करना चाहिए। ये भोगोपभोग परिमाण में नहीं हैं।'

यहाँ भोजन से मतलब चारों आहार हैं।

1. खाद्य - दाल, रोटी, लड्डू आदि।
2. स्वाद्य - इलायची, लौंग, सौंफ आदि।
3. लेह्य - रबड़ी, दही आदि।
4. पेय - जल, रस, दूध आदि।

अत: रात्रि के समय उक्त चारों प्रकार के आहार के त्याग को रात्रि-भोजन-त्याग कहते हैं। शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक जोर दिया है कि सूर्योदय के दो घड़ी पश्चात् से लेकर और सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व तक की कालमर्यादा में भोजन करना, रात्रि-भोजन-त्याग है।

यथा -

वासरस्य मुखे चांते विमुच्य घटिकाद्वयम्।
योऽशनं सम्यगाधत्ते तस्यानस्तमितव्रतम्॥

प्रथमानुयोग के ग्रन्थ पद्मपुराण में ऐसा कथन है कि जिस समय लक्ष्मणजी जाने लगे तो उनकी नवविवाहिता वधू वनमाला ने कहा कि 'हे प्राणनाथ! मुझ अकेली को छोड़कर जो आप जाने का विचार करते हो तो मुझ विरहिनी का क्या हाल होगा?' तब लक्ष्मणजी ने उत्तर दिया 'हे वनमाले! मुझे जाने दो, अभीष्ट कार्य के हो जाने पर, मैं तुम्हें लेने के लिए अवश्य आऊँगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अगर मैं अपने वचनों को पूरा न करूँ तो जो दोष, हिंसादि करने से लगता है, उसी दोष का मैं भागी होऊँ।' इसे सुनकर वनमाला, लक्ष्मणजी से बोली - ''मुझे आपके आने में फिर भी कुछ सन्देह है; इसलिए आप यह प्रतिज्ञा करें कि 'यदि मैं न आऊँ तो रात्रि-भोजन के पाप को भोगनेवाला होऊँ।''

देखो, **मङ्गलार्थी** बच्चो! रात्रि-भोजन का पाप कितना भयंकर है। प्रीतिंकर के पूर्व भव के स्याल के जीव ने मुनीश्वर के उपदेश से रात्रि में जल पीने का त्याग किया था। जिसके प्रताप से वह महापुण्यवान समृद्धिशाली प्रीतिंकर हुआ था।

जिस रात्रि में, सूक्ष्म तथा स्थूल जीवों का प्रचुर संचार रहता है, मुनिगण चलते-फिरते नहीं, भक्ष्याभक्ष्य का भेद मालूम नहीं होता, ऐसी रात्रि में, दयालु श्रावकों को भोजन कदापि नहीं करना चाहिए। हाथ पर रखे हुए आँवले की भाँति यह बात परिस्पष्ट होते हुए भी तथा आगम में बहुचर्चित होने पर भी कुछ जैनी भाई, रात्रि में खूब माल उड़ाते हैं। कई प्रान्तों के जैनियों ने तो ऐसा नियम बना रखा है कि रात्रि में अन्न की चीज़ न खानी; शेष - पेड़ा, बर्फी आदि खाने में, दूधादि पीने में कोई हर्ज ही नहीं समझते। ऐसा ही प्रश्न पण्डित सदासुखदासजी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार, वचनिका के पृष्ठ 144 पर उठाकर, उसका समुचित समाधान भी इस प्रकार किया है -

कोई कहता है - आरम्भ तो रात्रि में नहीं करना; किन्तु बना बनाया ही भोजन, लड्डू, पेड़ा, पूड़ी, पुआ, बर्फी, दूध आदि सीधा खा लेने में तो रात्रि का कोई आरम्भ नहीं हुआ ? उसे इस प्रकार समझाते हैं - जो दिन में छोड़कर रात्रि में भोजन करता है, उसको तीव्र रागरूप महान हिंसा होती है। जैसे - अन्न के ग्रास का अनुराग तथा मांस के ग्रास का अनुराग, समान नहीं होता है; उसी प्रकार रात्रि-भोजन का अनुराग तथा दिन के भोजन का अनुराग, समान नहीं है।

श्री सकलकीर्तिजी ने श्रावकाचार में साफ कहा है कि -

भक्षितं येन रात्रौ च स्वाद्यं तेनान्नमंजसा।
यतोऽन्नस्वाद्ययोर्भेदो न स्याद्वान्नादियोगतः ॥83॥

अर्थ - जो रात्रि में अन्न के पदार्थों को छोड़कर पेड़ा, बर्फी आदि खाद्य पदार्थों को खाते हैं, वे भी पापी हैं; क्योंकि अन्न और स्वाद्य (इलायची आदि) में कोई भेद नहीं है।

आगे वे लिखते हैं - धीर-वीरों को दयाधर्म पालनार्थ प्यास लगने पर भी पूर्णतया प्रासुक शुद्ध जल को भी रात्रि में कदापि नहीं पीना चाहिए। इस प्रकार रात्रि में चारों प्रकार के आहार को छोड़नेवालों के प्रत्येक मास में पन्द्रह दिन उपवास करने का फल प्राप्त होता है।

चिकित्सा विशेषज्ञों का यह अभिमत है कि सोने के कम से कम तीन घण्टे पूर्व तक भोजन कर लेना चाहिए। जो लोग, रात्रि में भोजन करते हैं, वे प्राय: भोजन के तुरन्त बाद सो जाते हैं, जिससे पाचन को कोई अवसर मिल ही नहीं पाता। सूर्य के प्रकाश में एक प्रकार की ऊर्जा होती है; इसीलिए सूर्य होते हुए भोजन करने में, गरम किरणों के प्रभाव से पाचनतन्त्र ठीक रहता है।

वैज्ञानिकों की दृष्टि से विचारें तो सूर्यप्रकाश में Ultra-violet rays तथा Infra-red rays

होती हैं। इनके रहते हुए जीवोत्पत्ति नहीं होती। इसीलिए तो हम कपड़े, अनाज, धूप में देकर साल भर तक सुरक्षित करते हैं। सूर्यास्त के बाद ये किरणें (rays) न होने से, जीवोत्पत्ति विशेष होने से, भोजन करना महादोष है।

अब, **जैनेतर ग्रन्थों** की दृष्टि से देखते हैं। मार्कंडेय पुराण में है कि सूर्य के अस्त होने के पीछे (बाद) जल, रुधिर के समान और अन्न, मांस के समान कहा है।

अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कंडेयमहर्षिणां॥

महाभारत में नरक के चार द्वारों में से प्रथम द्वार रात्रि-भोजन कहा है। (परस्त्रीगमन, संथान / अचार-मुरब्बा तथा अनन्त काय कन्दमूल को भी द्वार कहा है)-**चत्वारि नरकद्वारं प्रथमं रात्रिभोजनम्...**

महाभारत में एक स्थल पर, युधिष्ठिर को सम्बोधन देते हुए कहा है कि, हे युधिष्ठिर! गृहस्थों को रात्रि में भोजन तो क्या, पानी भी नहीं पीना चाहिए।

'नोदकमपि पातव्यं रात्रौ अपर युधिष्ठिरः'

और भी कहा है कि यह कैसा आश्चर्य है कि सूर्यभक्त, जब सूर्य मेघों में ढँक जाता है (सूर्यग्रहण), तब तो वे भोजन का त्याग कर देते हैं; परन्तु वही सूर्य जब अस्त दशा को प्राप्त होता है, तब वे भोजन करते हैं। स्वजन मात्र के मर जाने पर भी जब लोग सूतक पालते हैं अर्थात् उस दशा में अनाहारी रहते हैं, तब दिवानाथ सूर्य के अस्त होने के बाद तो भोजन किया ही कैसे जा सकता है ?

आयुर्वेद का मुद्रा लेख कहता है कि सूर्य छिप जाने के बाद, हृदय कमल और नाभि कमल दोनों संकुचित हो जाते हैं; इसीलिए रात्रि-भोजन वर्जित है।

रात्रि-भोजन के साथ जुड़े कुछ अनुष्ठान, जैसे - रात्रि में शादियों का आयोजन आदि, रात्रि-भोजन-त्याग के साथ रुक जाएँगे। अधिक क्या ? आज की युवा पीढ़ी, जो देर रात तक घरों से बाहर रहकर कई व्यसनों को आमन्त्रण दे रही है, वह भी सुरक्षित हो जाएगी। मङ्गलार्थियो आओ! समय रहते, हम विरासत में मिली इस अमूल्य धरोहर की रक्षा का प्रण करें।

प्रश्न -

1. रात्रि-भोजन-त्याग के संबंध में पंडित सदासुखदासजी क्या कहते हैं ?
2. भोजन कितने प्रकार का है ? स्पष्ट करें।
3. जैनेतर साहित्य से रात्रि-भोजन-त्याग पुष्ट करें।
4. आयुर्वेद का रात्रि-भोजन-त्याग में किस प्रकार समर्थन है ?
5. चिकित्सा विशेषज्ञों का रात्रि-भोजन-त्याग के बारे में क्या कहना है ?

पाठ 10

राजा हरसुखराय

दिल्ली के धर्मपुरा का जो विशाल मन्दिर आप देख रहे हैं, यह राजा हरसुखराय के उदात्त परिणामों का फल है। जब दिल्ली के बादशाह ने हिसार से लाला हुकुमतराय को (जो उस समय वहाँ प्रतिष्ठित नागरिक और शाही श्रेष्ठी कहे जाते थे), दिल्ली बुलवाया और उन्हें ससम्मान रहने के लिए, शाही मकान प्रदान किया। लालाजी के पाँच पुत्र थे। इनमें हरसुखराय सबसे ज्येष्ठ, गम्भीर और अत्यन्त निपुण थे। दिल्ली में आबाद होने के थोड़े ही दिन बाद, उनकी केवल श्रीवृद्धि ही नहीं हुई, किन्तु लोक में उनकी प्रतिष्ठा और गौरव भी बढ़ा। वे अधिक बोलना भी पसन्द नहीं करते थे, पर जो कुछ भी बोलते थे, उसमें इतनी सावधानी जरूर रखते थे कि उससे किसी का अहित न हो जाए।

उत्कर्ष और मानवता के प्रतीक

इन्होंने सन् 1791 वि. सं. 1848 में साहूकारी कपड़े की एक कोठी लाला सन्तलालजी, पानीपत के साझे में शुरु की। लाला सन्तलाल, पानीपत के निवासी थे। वहाँ से आकर, किसी समय दिल्ली में बसे थे। बादशाह की ओर से उन्हें भी शाही मकान दिया गया था, जो उनके कुटुम्बियों के पास, अब भी मौजूद है।

कोठी खुलने के कुछ ही समय बाद, लाला हरसुखराय, शाही खजांची बना दिए गए। इतना ही नहीं, किन्तु बादशाह, आपके काम से इतना खुश हुआ कि उन्होंने आपको राजा की उपाधि से भी अलंकृत किया। वे बादशाह आलमशाह द्वितीय के तत्कालीन नवरत्नों में से एक थे और दरबार में हमेशा आया-जाया करते थे; लालकिले में उनका चित्र भी, नवरत्नों में अंकित है।

लाला हरसुखराय को शाही खजांची होने के नाते, सरकारी सेवाओं के उपलक्ष्य में तीन जागीरें, सनदें और सर्टिफिकेट आदि भी प्राप्त हुए थे, जो उनके कुटुम्बियों के पास आज भी सुरक्षित हैं। आप भरतपुर राज्य के कौंसिलर भी थे तथा राजपूताने के कोषाध्यक्ष होने से, आपका सम्बन्ध अच्छे-अच्छे अंग्रेजों और विभिन्न राज्यों के दीवानों, राजाओं, नवाबों और सेठ-साहूकारों से था।

आप, धन को, धार्मिक कार्यों में कौड़ियों की तरह बिखेरते थे और गरीबों की सदा सहायता करना, अपना परम कर्तव्य मानते थे। वे इस बात का सदैव ध्यान रखते थे कि मेरी वजह से, किसी के स्वाभिमान को कोई ठेस न पहुँचे।

सन् 1857 में जब राज विप्लव हुआ, दिल्ली और उसके आस-पास भय और आतंक का साम्राज्य छाया, तब आपने अपने कुटुम्बीजनों को सुरक्षा की दृष्टि से हिसार भेज दिया और आप, एकाकी निर्भय हो, अपने नौकरों के साथ दिल्ली में ही रहे। उस समय लूट-खसोट और डाँकेजनी आदि की भीषण घटनाएँ हो रही थीं।

कुछ डाकू लोग, अपने सरदार के साथ आपके मकान पर भी आए, राजाजी ने डाकुओं को देखते ही, अपने मकान को खोल दिया और स्वयं तिजोरियाँ खोल दीं और डाकुओं के सरदार से कहा कि आपको जितने धन की जरूरत हो ले जाइए। डाकुओं का सरदार समझदार था, उसने सोच-विचारकर अपने साथियों से कहा कि यह बड़ा भला आदमी है, इसका यह माल अपने को हजम नहीं हो सकता। आप, अपना माल सम्हाल कर रखें, हमें उसकी जरूरत नहीं है और हम आपकी रक्षा के लिए अपने पाँच आदमी छोड़े जाते हैं, जिससे आपको अन्य डाकू लोग तंग न करें। राजा साहब, डाकुओं के सरदार की बात सुनकर, अवाक् रह गए और आश्चर्य से उनकी ओर देखने लगे।

जिनमन्दिर-निर्माण

सन् 1801 (वि. सं. 1858) में राजा साहब के मन में रात्रि में सोते समय, मन्दिर-निर्माण का विकल्प साकार हो उठा और स्वप्न में ही प्रसन्नता के साथ मन्दिर-निर्माण कराने का विचार भी पक्का हो गया। उस समय दिल्ली में इतने जैन मन्दिर न थे और जो थे, वे इतने सुन्दर, विशाल एवं चित्ताकर्षक भी न थे, जिनमें जनता, सुविधा के अनुसार वात्सल्य के साथ, धर्म-साधन कर सके। साथ ही, उसमें उनकी इच्छा एक विशाल शास्त्र भण्डार को संगृहीत करने की थी क्योंकि सर्व साधारण को स्वाध्याय करने के लिए, शास्त्र सुलभ नहीं होते थे।

इन्हीं सद्विचारों से प्रेरित हो, आपने मन्दिर बनवाने का निश्चय किया और प्रात:काल ही अपनी उस योजना को कार्यरूप में परिणत करने के लिए अपने मकान के पास ही विशाल जमीन खरीद ली और बादशाह से 'मन्दिर-निर्माण' करने की आज्ञा भी ले ली। आज्ञा मिलते ही, आपने शुभ-मुहूर्त में विशाल मन्दिर की नींव डाल दी और उसकी चिनाई का काम तत्परता के साथ होने लगा। सात वर्ष के कठोर परिश्रम से मन्दिर बनकर प्राय: तैयार हो गया। जब शिखर में दो-तीन दिन का काम अवशिष्ट रह गया, तब राजा साहब ने तामीर (निर्माण कार्य) बन्द कर दी। जो राजा साहब, सर्दी, गर्मी और बरसात में, हर समय मिस्त्री-मजदूरों में खड़े होकर काम कराते थे, वे आज वहाँ नहीं थे।

विरोधीजनों को अटकल (अनुमान) लगाते देर न लगी और एक महाशय बोले – 'हमने तो पहले ही कहा था कि मुसलमानी राज्य में जब पुराने मन्दिरों का संरक्षण दूभर है, तब नए मन्दिरों का निर्माण, बादशाह कैसे सहन कर सकता है ?'

इतने में दूसरे सज्जन अपनी बुद्धि का कौशल दिखलाते हुए बोल उठे, खैर भाई! राजा साहब, बादशाह के खजांची हैं, मन्दिर बनवाने की अनुमति ले ली होगी, मगर शिखरबन्द मन्दिर कैसे बनवा सकते हैं ? यदि मन्दिर के शिखर बनने की आज्ञा दे दी जाए तो फिर मन्दिर और मस्जिद में अन्तर ही क्या रह जाएगा ?

ये बातें परस्पर हो ही रही थीं कि इतने में एक वृद्ध सज्जन अपने दो साथियों के साथ उधर आ निकले। उनमें एक ने मन्दिर की ओर देखते हुए कहा, राजा साहब ने मन्दिर बनवाया तो है बहुत सुन्दर, पर मुसलमान इसे कब सहन कर सकते थे ? मैं तो यह पहले ही जानता था; परन्तु मैंने किसी से कुछ कहा नहीं था। इस साम्राज्य ने सहस्त्रों मन्दिर धराशायी करा दिए हैं, मूर्तियाँ तुड़वा डाली हैं। ऐसी स्थिति में भला, इसकी तामीर कैसे चल सकती थी ?

जब अन्य मित्रों-साधर्मियों को मन्दिर की तामीर बन्द होने के समाचार ज्ञात हुए, तो वे खेदखिन्न हो और अन्न-पानी का परित्याग कर, राजा साहब के पास दौड़े आए। आँखों से अश्रुधारा बहाते हुए एवं अपनी आन्तरिक वेदना व्यक्त करते हुए बोले, राजा साहब, आपके होते हुए मन्दिर अधूरा रह जाए, तब तो हमारा दुर्भाग्य ही है। आपने तो कहा था, कि बादशाह सलामत ने शिखरबन्द मन्दिर बनवाने के लिए खुद की इच्छा व्यक्त की थी, फिर न मालूम सहसा यह क्या आपत्ति आई ?

राजा साहब ने बहुत कुछ टाल-मटोल की, पर अन्त में वे सकुचाते हुए बोले, भाइयों के आगे अब पर्दा रखना भी ठीक नहीं होता – जो कुछ थोड़ी सी पूँजी थी, वह सब समाप्त हो गई। मैं कर्ज लेने का आदी नहीं; सोचता हूँ बिरादरी से चन्दा कर लूँ, पर कहने की हिम्मत नहीं होती; अतः मजबूर होकर, तामीर बन्द करनी पड़ी। इतना कहना था कि मित्रों का हृदय-कमल खिल उठा। बस, इतनी सी बात पर आपको चिन्ता करने की जरूरत नहीं थी ? और राजा साहब के आगे अशर्फियों का ढ़ेर लगाकर बोले, आपको किसी से कर्ज लेने की आवश्यकता नहीं और न चन्दा माँगने की ही जरूरत है और न हम लोगों के होते हुए, इतनी परेशानी उठाने की। अन्यथा धिक्कार है, हमारे इस मानव जीवन को। आपको जितने धन की आवश्यकता हो, सेवा में हाजिर है।

राजा साहब, किंचित् मुस्कुराहट के साथ, कुछ लज्जा का अनुभव करते हुए बोले – मुझे अपने साधर्मी भाइयों से इसी उदारता की आशा थी, किन्तु मुझे इतनी रकम की आवश्यकता नहीं है। दो-तीन

दिन की तामीर खर्च के लिए जितनी रकम की आवश्यकता है; उसे यदि मैं लूँगा तो सारी बिरादरी से, अन्यथा किसी से भी नहीं लूँगा।

राजा साहब के समक्ष किसी किस्म का आग्रह करना उचित नहीं था; अत: प्रत्येक घर से नाममात्र का चन्दा किया गया और मन्दिर के शिखर का काम पूरा हो गया। उस समय मन्दिर की शोभा अद्वितीय थी और वह देखते ही बनती थी। जो मन्दिर को देखता, गदगद हो जाता। हृदय प्रसन्नता से भर जाता और यह कहे बिना नहीं रहता कि धन्य है राजा साहब को, जो इतना सुन्दर और विशाल मन्दिर बनाकर तैयार किया है।

जब मन्दिर की प्रतिष्ठा का समय आया, तब आपने उसे बड़ी भारी तैयारी और महोत्सव के साथ सम्पन्न कराया। उसके लिए एक विशाल पाण्डाल बनवाया गया और प्रतिष्ठा का कार्य, उत्साह के साथ सम्पन्न किया गया। सन् 1807 वि. सं. 1864 में वैशाख शुक्ला तीज (अक्षय तृतीया) के दिन शुभ-मुहूर्त में, अभिषेक के साथ, जय-जय शब्दों के नादपूर्वक, श्री आदिनाथ की प्रशान्तमूर्ति विराजमान की गई।

राजा साहब का अन्त:विवेक

जब कलशारोहण का समय आया और पंचायत ने राजा साहब से निवेदन किया कि राजा साहब! कलशारोहण कीजिए। तब राजा साहब पगड़ी उतारकर बोले - भाइयो! मन्दिर मेरा नहीं, पंचायत का है, सभी ने चन्दा दिया है; अत: पंचायत ही कलशारोहण करे और वही आज से मन्दिर का प्रबन्ध करे। जब लोगों ने राजा साहब की बात सुनी तो अवाक् रह गए। तब उन्हें उस थोड़े से चन्दा देने का रहस्य समझ में आ गया और लाला हरसुखरायजी के अन्त:विवेक का पता चला। उस समय राज (मिस्त्री) को चार आना और मजदूर को दो आना मजदूरी के मिलते थे। तब इस मन्दिर में 7-8लाख रुपया लगा है। दस हजार में तो केवल वेदी के ऊपर का कमल बना था और सवा लाख में संगमरमर की वेदी। राजा साहब का विवेक अत्यन्त मूल्यवान था। यद्यपि वे विशेष ज्ञानी नहीं थे परन्तु ममता, बुरी समझते थे। इसी से उन्होंने परवस्तु से अपने अहंभाव को दूर कर, अपनी विवेक जागृति का परिचय दिया था। इतना ही नहीं, वे मन्दिर की सुरक्षा और उपासना आदि के लिए काफी जमीन-जायदाद दे गए थे, जो आज भी मन्दिर के पास मौजूद है।

इस जीव को अहंकार-ममकार ही तंग करते हैं और वही मानव को पतन की ओर ले जाते हैं। विवेकी मनुष्य, उनके फन्दे में नहीं आते। राजा हरसुखराय का ममकार-अहंकार का त्याग, उनके आदर्श जीवन की महत्ता का द्योतक है और जैन-समाज के लिए अनुकरणीय आदर्श। जो सौ, दो सौ रुपया दान में देकर, अपना नाम अंकित कराते हैं और जरा से काम करने में अपनी महत्ता प्रकट करते हैं, उन्हें राजा साहब के अपूर्व त्याग और अन्त:विवेक पर ध्यान देना चाहिए और नाम के लिए दान न कर,

अपने हित के लिए करना चाहिए। उसके साथ पर का हित भी हो जाता है। लक्ष्मी चंचल और जीवन क्षणभंगुर है, न मालूम कब विघट जाए; अत: अपने विवेक को बलपूर्वक बढ़ाने का प्रयत्न होना चाहिए।

दिल्ली में शाही समय में प्रथम जैन रथोत्सव

संवत् 1867 में राजा साहब के हृदय में रथोत्सव निकालने का विचार हुआ। आपके मित्रों ने भी रथोत्सव निकालने की प्रेरणा की। एक दिन दरबार में, जब राजा हरसुखरायजी गए, बादशाह ने कहा – आज, आप जो चाहें, सो माँग लें। उन्होंने कहा कि जहाँपनाह! आपकी कृपा से मेरे पास सब कुछ है; परन्तु मेरे मित्र और समाजवाले – सब यह प्रेरणा करते हैं कि रथोत्सव निकाला जाए, पर रथोत्सव कैसे निकाला जा सकता है, इसी चिन्ता में हूँ? बादशाह ने कहा – रथोत्सव निकालिए, शाही लवाजिम और जो चाहें राज्य से मिलेगा। तब इन्होंने कहा – जहाँपनाह, आपकी कृपा से ही रथ निकल सकता था। अब, मैं आपकी आज्ञानुसार रथोत्सव निकालने का प्रयत्न करूँगा। फलस्वरूप शाही समय में सबसे प्रथम दिल्ली में, रथोत्सव शान-बान के साथ निकाला गया।

अन्य मन्दिर-निर्माण-कार्य

आपने केवल मन्दिर का ही निर्माण नहीं कराया, किन्तु नये मन्दिर में विशाल शास्त्रों का संकलन कराया, जो आज भी मौजूद हैं और जिसकी अनेक प्राचीन प्रतियाँ ग्रन्थ-सम्पादन में उपयोगी हैं और वे आवश्यकतानुसार सहजता से विद्वानों के पास भेजीं जाती हैं। दिल्ली के अतिरिक्त आपने हस्तिनापुर, अलीगढ़, करनाल, सोनीपत, हिसार, सांगानेर और पानीपत आदि स्थानों पर भी मन्दिर-निर्माण कराये थे और अन्त में उन सबको पंचायती बना दिए थे। आपकी भद्रता और दयालुता प्रसिद्ध थी। आप गुप्तदानी भी थे, किसी की हीन स्थिति का परिज्ञान होते ही, उसके घर, लड्डू आदि में मुहरें रखकर, भिजवा दी जाती थीं अथवा अन्य प्रकार से सहायता करते थे।

सन् 1803 (वि.सं. 1860) में अंग्रेजों ने दिल्ली पर कब्जा किया, उस समय हुक्म तो बादशाह का चलता था, किन्तु अंग्रेजों ने धीरे-धीरे उसे हटा दिया और वे एकमात्र शासक बन गए।

इस तरह धार्मिक जीवन बिताते हुए आपने सं. 1879 के लगभग कोठी का साझा परस्पर बाँट दिया और नि:शल्य बन गए। उसके एक वर्ष बाद सं. 1880 में वे दिवंगत हुए।

कर्मणो हि प्रधानत्वं किं कुर्वन्ति शुभा ग्रहाः
वशिष्टदत्तलग्नश्च रामः किं भ्रमते वनम्॥

अर्थात् – हमें, अपने शुभाशुभ-शुद्धभाव का फल मिलता है, उसमें गृह-नक्षत्र क्या कर सकते हैं? प्रसिद्ध ज्योतिषी वशिष्टजी ने रामविवाह का लग्न निकाला था फिर भी राम, सीता वन में क्यों भटकते रहें? सब भाग्य का खेल है।

पाठ 11

सती अनन्तमती

अयोध्या के बाह्योद्यानस्थ एक चैत्यालय में प्राकृत की सरस एवं पावन गाथा गूँज रही थी –

अहमेक्को खलु सुद्धो दंसणणाणमइयो सदारूवी।
ण वि अत्थि मज्झ किंचि वि अण्णं परमाणुमेत्तं पि॥

गाथार्थ : दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप परिणत आत्मा यह जानता है कि निश्चय से मैं एक हूँ, शुद्ध हूँ, दर्शन-ज्ञानमय हूँ, सदा अरूपी हूँ; किंचित्मात्र भी अन्य परद्रव्य, परमाणुमात्र भी मेरा नहीं है – यह निश्चय है।

सहसा एक नारी का करुण स्वर सुनाई पड़ा – माँ, आश्रय दो। स्वाध्याय रुक गया। गूँजते हुए छन्द मौन हो गए। करुण पुकार ने आर्यिका पद्मश्री के हृदय को द्रवित कर दिया। पद्मश्री उठीं, देखा, द्वार पर एक थकी, हारी युवती खड़ी है। युवती ने पुनः कहा – माँ, आश्रय दो और आर्यिका पद्मश्री का हाथ बरबस ही युवती के माथे पर रखा गया। आर्यिका पद्मश्री ने कहा – 'भयमुक्त हो बेटी, क्या कष्ट है ?' किन्तु इतना सुनने की शक्ति उस युवती में कहाँ थी, युवती का अचेतन शरीर पृथ्वी पर गिरने लगा, आर्यिका ने आश्रय दिया।

णमोकारमन्त्र का पाठ सुनते ही युवती को चेतना आई। चेतना आते ही युवती उठी; जब तक कि पद्मश्री, युवती को रोकतीं, युवती ने आर्यिका पद्मश्री की चरण रज माथे पर लगाई और कहा – 'माँ, इच्छामि' आर्यिका पद्मश्री ने युवती के माथे पर वरदहस्त रखा, फिर शान्त और गम्भीर स्वर में कहा – 'धर्म में नित आस्था हो, सुखी रहो; कौन हो बेटी, क्या कष्ट है ?'

युवती के दोनों हाथ श्रद्धा से जुड़ गए, मस्तक झुक गया। उस युवती को देखकर लगा जैसे प्रकृति ने इसके सृजन में समस्त सौन्दर्य व्यय कर दिया है। वह बड़े ही करुण स्वर से बोली – 'माँ, मुझ अभागिन का परिचय जानकर क्या करोगी। भगवान महावीर की उदारता से आपका आश्रय मिल गया, यही मेरा सबसे बड़ा भाग्य और परिचय है।'

आर्यिका पद्मश्री ने कहा – 'बेटी, यह जिन चैत्यालय है, भगवान महावीर के चरणों में सभी आश्रय पाते हैं, संसार में ऐसा कौन-सा पाप है जिसका प्रायश्चित्त न हो। तेरी गम्भीर वाणी, चेहरे से झाँकती हुई पावनता इस बात का प्रमाण दे रही है कि तुझमें आत्मिक शक्ति का विकास हुआ है। स्वर्ण जितना तपता है, उतना ही निखरता है। भयमुक्त होकर अपनी व्यथा सुना। बेटी, अब तू आर्यिका पद्मश्री के आश्रय में है।'

माँ, मैं अनन्तमती हूँ, चम्पापुर के नगर श्रेष्ठी की इकलौती पुत्री, पूर्व जन्म के कर्मों के संयोग से इतने कष्ट उठाये हैं कि जीवन के प्रति कोई ममता शेष नहीं रही। प्रकृति ने नारी को सौन्दर्य देकर सबसे बड़ा छल किया है। सौन्दर्य के कारण इतने कष्ट उठाये हैं कि समय का ज्ञान तक नहीं रहा। इतनी छली गई हूँ कि सत्य भी स्वप्न सा लगता है। कुछ माह पूर्व चम्पापुर के एक उद्यान में अपनी सहेलियों सहित प्रभु नेमिकुमार से सम्बन्धित, लोक गीत गा रही थी।

मोह तजा, ममता तजी उनने तजो है सकल परिवार जी।
अधब्याही राजुल तजी, वे तो जाय चढ़े गिरनारजी॥

किन्तु सुखद सपने शीघ्र ही बिखर गए। भविष्य सदा ही अन्धकारमय है। होनहार होकर ही रहती है। उसी समय एक आकाशगामी विमान उतरा और एक बलिष्ठ पुरुष मुझे अनेकों सहेलियों के बीच से उठा ले गया। जब सूर्य की लालिमा अस्ताचल में सिमट रही थी, वह मुझे एक निर्जन वन में छोड़ गया, जाते समय बोला - मैं, कुण्डलमण्डित, विद्याधरों का राजा, किन्नरपुर का स्वामी हूँ। किन्नरपुर समीप है, राज्य के निवासी, सामन्त, परिवार के सदस्य मेरे स्वागत की प्रतीक्षा में होंगे। मैं नहीं चाहता कि तू मेरी अप्रतिष्ठा का कारण बने। मैं शीघ्र ही लौटकर आऊँगा और तुझे ले जाऊँगा और किन्नरपुर के निकट निर्जन वन में छोड़कर चला गया। सम्भव है उसने सोचा हो, इस निर्जन वन में मेरी प्रतीक्षा के अतिरिक्त और मार्ग भी क्या हो सकता है ?

पर दु:खों की कोई सीमा नहीं होती, माँ। कुछ क्षण के पश्चात् मैंने एक दैत्यकाय श्याम वर्ण मानव को देखा। वह मृगया के शस्त्रों से सज्जित था। उसके पीछे उसी आकार-जैसे अनेकों व्यक्ति थे। मैं भय से काँपने लगी। भय से भाग भी न सकी। इतने में ही उसने मुझे पकड़ लिया और कन्धे पर टाँग लिया, किन्तु अन्धकार से ही प्रकाश की किरण फूटती है, तभी रात्रि के पश्चात् भोर होता है। वह मुझे अपने गाँव ले गया। भील की पत्नी, भील से भी भयंकर थी; किन्तु माँ! उसकी भयंकरता के कारण ही मेरी पावनता की रक्षा हो सकी। भील की पत्नी ने कहा, इस घर में सौत नहीं रहेगी, उसने अपनी सुरक्षा में मुझे ले लिया, बहुत स्नेह दिया। भीलनी का चरित्र एवं स्नेह देखकर मुझे लगा कि इस श्याम तन पर अनेकों सौन्दर्य न्यौछावर किये जा सकते हैं।

भीलों का राजा, पशुओं के सींगों का और चन्दन की लकड़ियों का व्यापार करता था। एक दिन एक प्रौढ़ व्यक्ति, कई सेवकोंसहित लकड़ी खरीदने आया। पुराना व्यापारी था। भीलनी ने उसे बुलाकर कहा - यह एक चरित्रवान युवती है। कोई इसे निकट के सघन वन में हरण करके छोड़ गया था, तुम इसे ले जाओ। प्रतिज्ञा करो कि इसे पुत्री के समान रखोगे और सुविधा पाकर इसके माता-पिता के पास पहुँचा दोगे।

मैंने श्रेष्ठी की ओर देखा, उसके चेहरे से झाँकती हुई वासना मेरी दृष्टि से छिपी न रह सकी। मैं भयभीत हुई, मैंने कहा – माँ, मैं तुम्हारे पास ही सुखी हूँ, किन्तु इसके पूर्व भीलनी कुछ कहती, श्रेष्ठी बोला – मैं पुष्पसेन हूँ। प्रौढ़ अवस्था है। तुम्हारी उम्र की पुत्र-पुत्रियों से मेरा आँगन सदैव गूँजता रहता है। मैं भयमुक्त हुई और श्रेष्ठी के साथ चल दी। मार्ग में पुष्पक सेठ का व्यवहार बहुत सुखद रहा। मुझे उसने विश्वास दिलाया कि वह शीघ्र ही मुझे मेरे माता-पिता के पास पहुँचा देगा। मार्ग में उसने मुझसे पिता के समान व्यवहार किया और कहा – बेटी! तू चिन्ता न कर, यदि लोक अपवाद के कारण तेरे माता-पिता तुझे स्वीकार नहीं करेंगे तो तू मेरी पुत्री तो है ही। मैं तेरा विवाह किसी उत्तम कुल के युवक से कर दूँगा।

मैंने कहा – धर्मपिता! मेरे विवाह का प्रश्न ही नहीं उठता। पुष्पक सेठ ने आश्चर्य से कहा – अभी यौवन काल प्रारम्भ ही हुआ है, जीवन में यौवन के कई वसन्त देखना है। इस आयु में विरक्ति ? मैं कुछ समझ नहीं पाया। मैंने कहा – बाल्यकाल में अष्टाह्निका पर्व के समय चम्पापुर में एक जैन श्रमण आये थे। मेरी माँ और पिता श्री ने अष्टाह्निका पर्व में ब्रह्मचर्य व्रत धारण किया। मैंने भी अनजाने से कहा – पिताश्री मैं भी ब्रह्मचर्य व्रत लूँगी। पिता हँसी में बोले, तू भी व्रत ले ले बेटी। मैंने जीवनपर्यन्त के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया। बाल्यकाल की स्मृति, यौवन की देहरी तक आते-आते मस्तिष्क पर दृढ़ संस्कार बना चुकी थी। प्रति वर्ष में अष्टाह्निका पर्व पर अपनी बाल्यकाल की स्मृति को, संकल्प को दोहरा लेती थी। भगवान महावीर, सती चन्दनबाला का पावन चरित्र मेरे मस्तिष्क में सदैव गूँजता रहता है, मुझे प्रेरणा और शक्ति देता है।

हे धर्मपिता! यदि मेरे माँ-बाप मुझे स्वीकार न करें तो आप मेरे जीवन का भार न उठाइए। मुझे किसी जैन आर्यिका के चरणों में स्थान दिला दें। पुष्पक सेठ ने यह सुनकर अट्टहास किया।

यात्रा के तीन दिवस बीत गए। मैंने सोचा था कि मेरे दु:खों का अन्त निकट आ गया; किन्तु दुर्भाग्य ने पीछा नहीं छोड़ा। जिसे मैं धर्मपिता समझी थी, एक दिन उसने बहुत ही घृणित प्रस्ताव मेरे समक्ष रखा। धर्मपिता के मुखौटे के पीछे एक व्यसनी का चेहरा झाँक रहा था। बोला, 'अनन्तमती, धर्म और शील की बात में कोई सार नहीं। धर्म और शील की बातें छोड़ दो। मैं तुझे अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति की स्वामिनी बना दूँगा। मानव-जीवन बार-बार नहीं मिलता, यौवन के सुखद क्षण बार-बार नहीं आते। जीवन का उपभोग करो। यौवन का, मादकता का तुझे अनुभव नहीं है। एक बार भोगों को भोगना प्रारम्भ कर दिया तो छोड़ने का नाम नहीं लोगी। धर्म की बातें व्यर्थ हैं, छोड़ दो।'

मैंने कहा, – 'धर्मपिता, मानव-जीवन बार-बार नहीं मिलता। भोगे हुए भोगों में तृप्ति कहाँ, मानवयोनि अनेक योनियों में भटकने के बाद मिलती है। यदि यह जीवन भी सांसारिक लिप्सा में बीत गया, तो जीवन व्यर्थ चला जाएगा।' पुष्पक सेठ ने कहा – 'पगली, ज्ञान की बातें रहने दे। खुशी, खुशी

समर्पण नहीं किया तो बलपूर्वक मुझे अपनी इच्छापूर्ति करनी पड़ेगी। मैं तुझे दो दिन का समय देता हूँ। यदि तूने अपना निर्णय नहीं बदला, तो मुझे बल प्रयोग करना पड़ेगा।'

मैंने भगवान महावीर का स्मरण कर अन्न-जल छोड़ दिया। मैंने यह प्रण लिया कि जब तक इस उपसर्ग का निवारण नहीं हो जाएगा, मैं अन्न-जल ग्रहण नहीं करूँगी। भूख-प्यास और मानसिक पीड़ा से दो दिन में ही शरीर की कान्ति विलीन हो गई। मूर्छा भी आने लगी। दो दिन बाद पुष्पक आया, मेरे शरीर की दशा देखकर घबराया। बोला, 'मैं तुझे तेरे पिता के पास भेज दूँगा, तू अन्न-जल ग्रहण कर।'

मैं अपने निश्चय पर दृढ़ रही, तीसरे दिन वह एक प्रौढ़ महिला को लेकर आया और बोला, 'मैंने तुझे घर भेजने की व्यवस्था कर दी है, तू भोजन कर ले और इस महिला के साथ आनन्दपूर्वक अपने घर जा।' मैंने कुछ फल-दूध आदि स्वीकार किया। मैं उस महिला के साथ चल दी; किन्तु दुर्भाग्य से वह एक गणिका थी और पिशाच पुष्पक ने मुझे उसके हाथों में इसलिए सौंपा था कि वह मुझे उसकी वासना पूर्ति हेतु बाध्य कर सके। सन्ध्या तक मुझे यह ज्ञात न हो सका कि देवसेना एक गणिका है किन्तु रात्रि के प्रथम पहर में, अश्लील गीतों की ध्वनि, पायलों की झंकार और अट्टहास की आवाजों ने मुझे सोचने को विवश कर दिया कि देवसेना प्रसिद्ध एवं धनिक गणिका है। रात्रि के प्रथम पहर में प्रारम्भ हुई घुँघरुओं की झंकार, तबले की थापें, मध्यरात्रि के पश्चात् जाकर रुकीं। मैं एक पल को भी सो न सकी। सुबह-सुबह देवसेना ने एक स्वस्थ युवक धनिक से मेरा परिचय कराया और कहा कि 'यह बहुत ही चरित्रवान व्यक्ति है, इनका आश्रय स्वीकार कर।' मैं जानती थी कि मुझे विक्रय किया जा रहा है; किन्तु माँ मैं विवश थी। मैंने सोचा कि इस गणिका के गृह से मुक्ति प्राप्त कर लूँ और मैं उस पुरुष के साथ चल दी। गणिका के गृह के आगे एक सुसज्जित रथ खड़ा हुआ था, उसी में मेरी यात्रा प्रारम्भ हुई। रथ एक दुर्ग के आगे रुका और मुझे फिर चार दीवारी में बन्द कर दिया। लम्बी यात्रा के कारण अंग-अंग टूट रहा था। थकान से पलकें बोझिल थीं; किन्तु एक प्रकाश की किरण संबल बन गई। हृदय ने कहा, बुद्धि ने उसका अनुमोदन किया कि जिस अदृश्य शक्ति ने बाल्यकाल में ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार करने की प्रेरणा दी थी, वह शक्ति तेरे जीवन के शूलों को चुन लेगी। मैंने वीर प्रभु का स्मरण किया।

स्मरण करने से मेरा सोया हुआ विश्वास लौट आया। मुझे लगा कोई अज्ञात शक्ति मेरे भय को दूर खींच ले गई। हृदय को शान्ति मिली, साहस मिला। सहसा किसी के आने की पदचाप सुनाई दी। मैंने देखा वही बलिष्ठ राज-पुरुष मादकता में बढ़ा चला आ रहा है। उसके चेहरे पर क्रूरता व वासना झलक रही थी। मैंने णमोकारमन्त्र का जाप जोर-जोर से प्रारम्भ कर दिया। मन्त्र का चमत्कारिक प्रभाव हुआ। उसके बढ़ते हुए कदम रुक गए। उसकी वासना न जाने कहाँ विलीन हो गई, न जाने किस अदृश्य शक्ति ने इतने शीघ्र उसके विचारों में परिवर्तन कर दिया। वह बोला, ''बहिन क्षमा करना, मैंने अनेक युवतियों के साथ बलात्कार किया है। मेरे इस पाप की, कक्ष की दीवारें भी साक्षी हैं। मेरे कानों में उनकी चित्कारें

सुनाई पड़ रही हैं। आज के पूर्व कभी मेरे हृदय में दया नहीं आई। मैं आज तुझे सच्चे हृदय से बहिन कहकर पुकार रहा हूँ। अपने शब्दों का अपमान करना मुझे नहीं आता है, प्राण भले ही चले जाएँ, पर बहिन तेरी पावनता पर दाग नहीं आएगा। मैं भगिनी-विहीन हूँ, एक बार मुझे भाई कहकर पुकार।

अनायास मेरे हृदय से निकल गया 'भैया' मुझे उसकी वाणी में प्रायश्चित्त की झलक मिली, किन्तु मैं दूध से जल चुकी थी। मैंने कहा, 'भ्रात यदि तुम सच्चे हृदय से प्रायश्चित्त कर रहे हो, यदि तुम क्षत्रिय हो तो मुझे मार्ग दो। मुझे इसी समय मुक्त कर दो।' वह मार्ग से हट गया, मैं उसी क्षण चल दी निरन्तर चलती ही रही। यह मेरी आत्मकथा है।

माँ! मुझे आश्रय दो। संसृति के अपावन कोलाहल ने मेरी शान्ति, मेरा विश्वास छीन लिया है, मुझे भगवान ऋषभदेव की अमृत वाणी का पान कराओ। आर्यिका पद्मश्री ने अनन्तमती की पीड़ा को पहिचाना। अनन्तमती पद्मश्री का आश्रय पाकर निहाल हो गई।

प्रश्न -

1. सती अनन्तमती के जीवन से हमें क्या शिक्षा मिलती है ?

विरागी हाथी

रावण, लंका का राजा था। इसके सबसे प्रधान हाथी का नाम त्रिलोकमंडन था। राजा रावण ने सम्मेदशिखर के पास के मधुवन में से इसको पकड़ा था।

बाद में तो श्रीराम और रावण के बीच बड़ी लड़ाई हुई, रावण मारा गया। श्रीराम जीते और त्रिलोकमंडन हाथी को लेकर सब अयोध्या आए। यह हाथी बड़ा समझदार और चतुर था।

भरत को यह बहुत प्यारा था और इस हाथी को भी भरत के ऊपर बहुत प्यार था। एक बार वह हाथी विफर कर भागा और हाहाकार मच गया परंतु भरत को देखते ही वह शांत हो गया। हाथी को पूर्वभव याद आया, भरत ने उसे वैराग्य का उपदेश दिया।

एक बार देशभूषण और कुलभूषण नाम के दो केवलीभगवंत अयोध्या आए, श्री रामचंद्र, लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, त्रिलोकमंडन हाथी पर बैठकर उनके दर्शन करने गए। भगवंतों को देखकर चारों ही प्रसन्न हुए, हाथी भी खुश हुआ। वहाँ भगवान का उपदेश सुनकर भरत ने तो दीक्षा ले ली। हाथी को भी वैराग्य हो गया और उसने सम्यग्दर्शन के साथ व्रत अंगीकार कर लिए। पन्द्रह-पन्द्रह उपवास किए। इस वैरागी हाथी को पारणा नगरजनों ने भक्तिपूर्वक कराया।

हाथी जैसा प्राणी भी कितना धर्मसाधन कर सकता है, तो क्या हमें नहीं करना चाहिए ?

सती अनन्तमती गाथा

ब्रह्मचर्य की अद्भुत महिमा, सुनो भव्यजन ध्यान से।
सती शिरोमणि अनन्तमती, की गाथा जैन पुराण से।।टेक।।

बहुत समय पहले चम्पानगरी में, प्रियदत्त सेठ हुए।
न्यायवान गुणवान बड़े, धर्मात्मा अति धनवान थे वे।।
पुत्री एक अनन्तमती, इनकी प्राणों से प्यारी थी।
संस्कारों में पली परम विदुषी रुचिवंत दुलारी थी।।
सदाचरण की दिव्य मूर्ति निज उन्नति करती ज्ञान से।।सती..।।1।।

मंगलपर्व अठाई आया, श्री मुनिराज पधारे थे।
स्वानुभूति में मग्न रहे, अरु अद्भुत समता धारे थे।।
धर्मकीर्ति मुनिराज धर्म का, मंगल रूप सुनाया था।
श्रद्धा, ज्ञान, विवेक जगा, वैराग्य रंग बरसाया था।।
धन्य-धन्य नर-नारी कहते, स्तुति करते तान से।। सती..।।2।।

प्रियदत्त सेठ ने धर्म पर्व में, ब्रह्मचर्य का नियम लिया।
सहज भाव से अनन्तमती ने, ब्रह्मचर्य स्वीकार किया।।
जब प्रसंग शादी का आया, बोली पितु क्या करते हो।
ब्रह्मचर्य-सा नियम छुड़ा, भोगों में प्रेरित करते हो।।
भोगों में सुख किसने पाया, फँसे व्यर्थ अज्ञान से।।सती..।।3।।

व्रत को लेना और छोड़ना, हँसी खेल का काम नहीं।
भोगों के दुख प्रत्यक्ष दीखें, अब तुम लेना नाम नहीं।।
गज मछली अलि पतंग हिरण, इक-इक विषयों में मरते हैं।
फिर भी विस्मय मूढ़, पाँच इन्द्रिय भोगों में फँसते हैं।।
मिर्च भरा ताम्बूल चबाते, हँसते झूठी शान से।।सती..।।4।।

चिंतामणि सम दुर्लभ नरभव, नहिं इनमें फँस जाने को।
यह भव हमें सु-प्रेरित करता, निजानंद रस पाने को॥
भोगों की अग्नि में अब यह, जीवन हवन नहीं होगा।
क्षणिक सुखाभासों में शाश्वत सुख का दमन नहीं होगा॥
निज का सुख तो निज में ही है देखो सम्यग्ज्ञान से।सती..॥5॥

अब मैं पीछे नहीं हटूँगी, ब्रह्मचर्य व्रत पालूँगी।
शील बाढ़ नौ धारण करके, अन्तर ब्रह्म निहारूँगी॥
नहिं बालिका मुझको समझो, मैं भी तो प्रभु सम प्रभु हूँ।
भय शंका का लेश न मुझमें, अनन्त शक्तिधारी विभु हूँ॥
मूढ़ बनो मत स्व महिमा पहिचानो भेदविज्ञान से।सती..॥6॥

मिट्टी का टीला तो देखो, जल-धारा से बह जाता।
धारा ही मुड़ जाती, लेकिन अचल अडिग पर्वत रहता॥
ध्रुव कीली के पास रहें, वे दाने नहिं पिस पाते हैं।
छिन्न-भिन्न पिसते हैं वे ही, कीली छोड़ जो जाते हैं॥
निजस्वभाव को नहीं छोड़ना, सुनो भ्रात अब कान दे।सती..॥7॥

अनन्तमती की दृढ़ता देखी, मात-पिता भी शांत हुए।
आनंदित हो धर्मध्यान में, वे सब ही लवलीन हुए॥
झूला झूल रही थी इक दिन, कुण्डलमण्डित आया था।
कामासक्त हुआ विद्याधर, जबरन उसे उठाया था॥
पर पत्नी के भय के कारण, छोड़ा उसे विमान से।सती..॥8॥

एकाकी वन में प्रभु सुमरे, भीलों का राज आया।
कामवासना पूरी करने को, वह भी था ललचाया॥
देवों द्वारा हुआ प्रताड़ित, सती तेज से काँप गया।
पुष्पक व्यापारी को दी, उसने वेश्या को बेच दिया॥
देखो सुर भी होंय सहाई, सम्यक् धर्मध्यान से।सती..॥9॥

वेश्या ने बहु जाल बिछाया, पर वह भी असमर्थ रही।
भेंट किया राजा को उसने, सती वहाँ भी अडिग रही॥

देखो कर्मोदय की लीला, कितनी आपत्ति आयी।
महिमा निजस्वभाव की निरखी, सती न किंचित् घबरायी॥
कर्म विकार करे नहिं जबरन व्यर्थ रुले अज्ञान से।।सती.. ॥10॥

निकल संकटों से फिर पहुँची, पद्मश्री आर्यिका के पास।
निजस्वभाव साधन करने का, मन में था अपूर्व उल्लास॥
उधर दुखी प्रियदत्त मोहवश, यहीं अयोध्या में आये।
बिछुड़ी निज पुत्री को पाकर, मन में अति ही हरषाये॥
घर चलने को कहा तभी, दीक्षा ली हर्ष महान से।।सती.. ॥11॥

निजस्वरूप विश्रान्तिमयी, इच्छा निरोध तप धारा था।
रत्नत्रय की पावन गरिमामय, निजरूप सम्भाला था॥
मगन हुई निज में ही ऐसी, मैं स्त्री हूँ भूल गयी।
छूटी देह समाधिसहित, द्वादशम स्वर्ग में देव हुई॥
पढ़ो-सुनो ब्रह्मचर्य धरो, सुख पाओ आतमज्ञान से।।सती.. ॥12॥

परभावशून्य चिद्भावपूर्ण मैं परमब्रह्म श्रद्धा जागे।
विषय-कषायें दूर रहें, मन निजानंद में ही पागे॥
ये ही निश्चय ब्रह्मचर्य, आनन्दमयी मुक्ति का द्वार।
संकट त्राता आनन्द दाता, इससे ही होवे उद्धार॥
अतः आत्मन् उत्तम अवसर, बनो स्वयं भगवान-से।
सती शिरोमणि अनन्तमती, की गाथा जैन पुराण से॥13॥

न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निन्दया नाथ विवान्त वैरे।
तथापि ते पुण्य गुणस्मृतिर्नः, पुनाति चित्तं दुरितान्जनेभ्यः॥

यद्यपि जिनेन्द्र भगवान वीतराग हैं, अतः उन्हें अपनी पूजा से कोई प्रयोजन नहीं है, तथा वैररहित हैं, अतः निंदा से भी उन्हें कोई प्रयोजन नहीं है; तथापि उनके पवित्र गुणों का स्मरण पापियों के पापरूप मल से मलिन मन को निर्मल कर देता है॥ *[स्वयंभू स्तोत्र, छंद 57]*

तीर्थधाम चिदायतन

निर्माणाधीन तीर्थधाम चिदायतन के विशाल संकुल में स्थापित,
श्री शान्तिनाथ अस्थायी जिनालय के दर्शन हेतु अवश्य पधारें।

पंजीकृत कार्यालय :
श्री शान्तिनाथ-अकम्पन-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट,
'विमलांचल', हरीनगर, अलीगढ़-202001 (उत्तरप्रदेश) भारत।
Ph: 0571-2410010 / 11 / 12
E-mail: info@mangalayatan.com | www.mangalayatan.com

निर्माण-कार्यालय एवं स्वागत कक्ष :
तीर्थधाम चिदायतन
हस्तिनापुर, मेरठ-250404 (उत्तरप्रदेश) भारत।
Ph: +91 9412749670 E-mail: info@chidayatan.com | www.chidayatan.com

निर्माणस्थल :
तीर्थधाम चिदायतन
दूसरी नसियाँजी से आगे,
हस्तिनापुर, मेरठ-250404 (उत्तरप्रदेश) भारत।
(सम्पर्क : +91 9837079003, श्री मुकेशचन्द जैन, मेरठ)

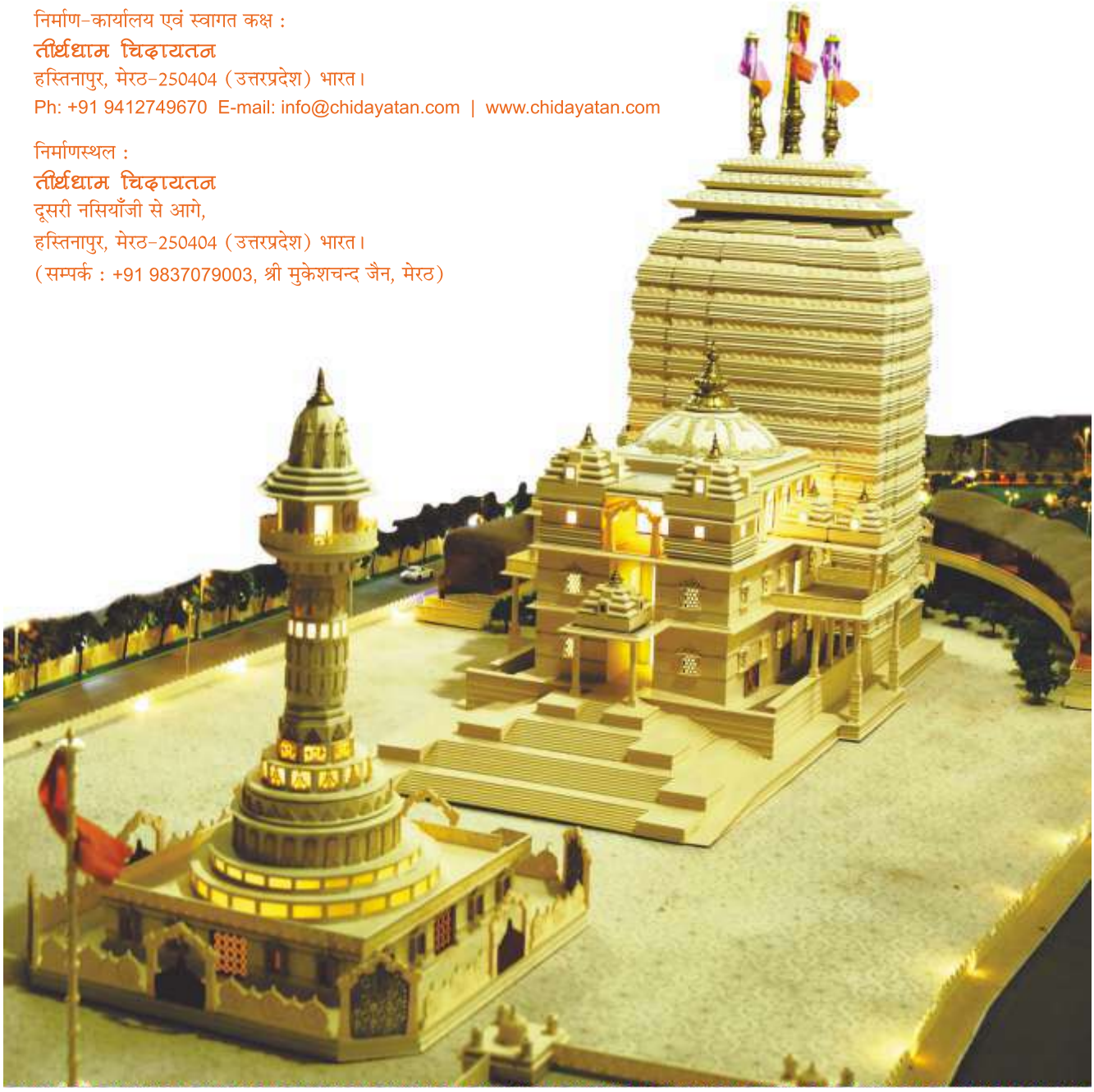

भारत में उत्तरप्रदेश प्रांत की हृदयस्थली अलीगढ़ में निर्मित २१ वीं शती का
विशुद्ध जिनायतन संकुल एवं समाजसेवा का उत्कृष्ट संस्थान

तीर्थ धाम मङ्गलायतन

प्रमुख दर्शनीय स्थल:

- कृत्रिम कैलाशपर्वत पर भगवान आदिनाथ मन्दिर एवं चौबीस तीर्थंकरों की निर्वाणस्थलियां-
- कैलाशपर्वत, सम्मेदशिखर, गिरनारगिर, चम्पापुर, पावापुरी एवं सोनागिरी व स्वर्णपुरी सोनगढ़ की विधिपूर्वक स्थापनाओं के दर्शन
- भगवान महावीर मन्दिर
- भगवान बाहुबली मन्दिर
- पंडित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर एवं जिनवाणी संरक्षण केंद्र
- आचार्य समन्तभद्र आत्मचिंतन केंद्र
- धन्य मुनिदशा
- आचार्य कुन्दकुन्द प्रवचन मण्डप एवं शोध संस्थान
- भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन

मङ्गल प्रकल्प:

email : info@mangalayatan.com
website: www.mangalayatan.com

मूल्य 30/-